श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा की एकमात्र हिन्दी मासिकी

वर्ष—१४ मार्च—१९९५ अंक—३

फार्म—४

(नियम ८ देखिए)

विवेक शिखा

प्रकाशक का घोषणा पत्र

पत्रिका का नाम	: विवेक शिखा	सम्पादक का नाम	: डॉ० केदारनाथ लाभ
आवर्तता	: मासिक	क्या भारतीय नागरिक हैं	: हाँ
प्रकाशन का स्थान	: रामकृष्ण निलयम् जयप्रकाश नगर छपरा-८४१३०१ (बिहार)	पता—	: रामकृष्ण निलयम् जयप्रकाश नगर छपरा-८४१३०१ (बिहार)
पत्रिका के स्वामी का नाम	: श्रीमती गंगा देवी	मुद्रक का नाम	: शंकर प्रसाद
क्या भारतीय नागरिक हैं	: हाँ	क्या भारतीय नागरिक हैं	: हाँ
पता—	: रामकृष्ण निलयम् जयप्रकाश नगर छपरा-८४१३०१ (बिहार)	पता—	: शिवशक्ति प्रिन्टर्स सैदपुर पटना-४ (बिहार)

मैं गंगा देवी एतत् द्वारा घोषणा करती हूँ कि ऊपर दी गयी जानकारी मेरी दृष्टि में सही है।

ह०/ श्रीमती गंगा देवी

प्रकाशक

इस अंक में

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत
उठो जागो और लक्ष्य प्राप्त किये बिना विश्राम मत लो

विवेक शिखा

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा की एकमात्र हिन्दी मासिका

वर्ष—१४ मार्च—१९९५ अंक—३

इष्टदेव का हृदय-कमल में रूप अनूप दिखा। निजानन्द में रखती अविचल विमल 'विवेक शिखा'॥

सम्पादकीय कार्यालय :
विवेक शिखा
रामकृष्ण निलयम्
जयप्रकाश नगर,
छपरा—८४१३०१
(बिहार)
फोन : ०६१५२-४२६३९

सहयोग राशि

आजीवन सदस्य—	५०० रु०
वार्षिक—	४० रु०
रजिस्टर्ड डाक से—	५० रु०
एक प्रति—	४ रु०

रचनाएं एवं सहयोग-राशि संपादकीय कार्यालय के पते पर ही भेजने की कृपा करें।

श्रीरामकृष्ण ने कहा है

(१)

उस 'एक' ईश्वर को जानो; उसे जानने से तुम सभी कुछ जान जाओगे। 'एक' के बाद शून्य लगाते हुए सैकड़ों और हजारों की संख्या प्राप्त होती है। परन्तु 'एक' को मिटा डालने पर शून्यों का कोई मूल्य नहीं होता। 'एक' ही के कारण शून्यों का मूल्य है। पहले 'एक' बाद में 'बहु'। पहले ईश्वर, फिर जीव-जगत।

(२)

मुसाफिर को नये शहर में पहुँचकर पहले रात बिताने के लिए किसी सुरक्षित डेरे का बन्दोवस्त कर लेना चाहिए। डेरे में अपना सामान रखकर वह निश्चिन्त होकर शहर देखते हुए घूम सकता है। परन्तु यदि रहने का बन्दोवस्त न हो तो रात के समय अँधेरे में विश्राम के लिए जगह खोजने में उसे बहुत तकलीफ उठानी पड़ती है। उसी प्रकार इस संसाररूपी विदेश में आकर मनुष्य को पहले ईश्वररूपी चिर विश्रामधाम प्राप्त कर लेना चाहिए, फिर वह निर्भय होकर अपने नित्य कर्त्तव्यों को करते हुए संसार में भ्रमण कर सकता है। किन्तु यदि ऐसा न हो तो जब मृत्यु की घोर अंधकार-पूर्ण रात्रि आएगी तब उसे अत्यन्त क्लेश और दुःख भोगना पड़ेगा।

(३)

जब तराजू का एक पल्ला दूसरे पल्ले से भारी होकर झुक जाता है तो उसका निचला कांटा ऊपरवाले कांटे से अलग हट जाता है। इसी प्रकार जब मनुष्य का मन कामिनी-कांचन के भार से संसार की ओर झुक जाता है तो वह ईश्वर में एकाग्र नहीं हो पाता, वह उनसे दूर हट जाता है।

श्रीरामकृष्णदासा वयम्

स्वामी विवेकानन्द

क्षीणा स्म दीनाः सकरुणा जल्पन्ति मूढ़ा जनाः
नास्तिक्यन्त्विदन्तु अहह देहात्मवादातुराः।
प्राप्ताः स्म वीरा गतभया अभयं प्रतिष्ठां यदा।
आस्तिक्यन्त्विदन्तु चिनुमः रामकृष्णदासा वयम् ॥१॥

पीत्वा पीत्वा परममृतं वीतसंसाररागाः
हित्वा हित्वा सकलकलह प्रापिणीं स्वार्थसिद्धिम्।
ध्यात्वा ध्यात्वा गुरुवरपदं सर्वकल्याणरूपं
नत्वा नत्वा सकलभुवनं पातुमामन्त्रयामः ॥२॥

प्राप्तं यद्वै त्वानादिनिधनं वेदोदधिं मथित्वा।
दत्तं यस्य प्रकरणे हरिहरब्रह्मादिदेवैर्बलम्।
पूर्णं यत्तु प्राणसारैर्भौमनारायणानाम्
रामकृष्णस्तनुं धत्ते तत्पूर्णपात्रमिदं भोः ॥३॥

जो लोग देह को आत्मा मानते हैं, वे ही करुण कंठ से कहते हैं—हम क्षीण हैं, हम दीन हैं। यह नास्तिक्य है। हमलोग जबकि अभयपद पर स्थित हैं तो हम भयरहित वीर क्यों न हों, यही आस्तिक्य है। हम रामकृष्ण के दास हैं ॥१॥

संसार में आसक्ति से रहित होकर, सब कलहों की जड़ आसक्ति का त्याग करके, परम अमृत का पान करते हुए, सर्वकल्याणस्वरूप श्रीगुरु के चरणों का ध्यान कर, समस्त संसार को नतमस्तक होकर उस अमृत का पान करने के लिए बुला रहे हैं ॥२॥

अनादि अनन्त वेदस्वरूप समुद्र का मन्थन करके जो कुछ मिला है, ब्रह्मा-विष्णु-महेश और देवताओं ने जिसमें अपनी शक्ति का नियोग किया है, जिसे पार्थिव नारायण कहना चाहिए और जिसमें भगवदवतारों के प्राणों का सारपदार्थ है, श्रीरामकृष्ण अमृत के पूर्ण पात्रस्वरूप उसी देह को लेकर आये थे ॥३॥

जीव की सेवा करो शिव-भाव से

मेरे आत्मस्वरूप मित्रो,

एक बार स्वामी विवेकानन्द (तब श्री नरेन्द्रनाथ दत्त) ने श्रीरामकृष्ण से निवेदन किया कि हमलोग चूंकि सारा समय ध्यान-साधना में ही नहीं लगा सकते, इसलिए ध्यान-साधना और शास्त्र-अध्ययन के उपरान्त जो समय बचता है उसे हमलोग जीवों पर दया करने में क्यों न लगावें ? जा दीन-हीन दुःखी-गरीब लोग हैं उन पर दया कर, उनके कल्याण के लिए हमलोगों को कुछ प्रयत्न करना चाहिए। लेकिन श्रीरामकृष्ण ने ईषत् क्रोध प्रकट करते हुए कहा—"दया क्या रे ? तू कौन है किसी पर दया करने वाला ? स्वामीजी को श्रीरामकृष्ण की यह बात नहीं जंची। उन्होंने बार-बार जीव-दया करने पर जोर डाला और बार-बार श्रीरामकृष्ण ने दया-भाव की भर्त्सना की। अंत में श्री नरेन्द्रनाथ को समझाते हुए उन्होंने कहा—देखो नरेन्द्र, तुम जीवों पर दया नहीं कर उनको सेवा करो। ईश्वर बुद्धि से उनकी सेवा करो। तुम दया करने वाले कौन हो ? तुम सेवा करोगे। सभी प्राणियों में वे (ईश्वर) ही निवास करते हैं, यही समझकर, शिव ज्ञान से जीवों को शिव मानकर तुम उनकी सेवा करोगे।

यह बात श्रीरामकृष्ण के मुँह से जब निकली तब एक चमत्कार हो गया। वह बड़ा शुभ लग्न था—एक माहेन्द्र क्षण, एक शिवात्मक बेला, एक महत्तम मुहूर्त। स्वामीजी का तो रूपान्तरण हो गया। वे बोल उठे—"आज ऐसी एक अपूर्व बात मैंने सुनी है कि यदि भगवान् ने समय दिया तो इस बात को सारे संसार में डंके की चोट पर सुनाऊँगा और इस मंत्र को कार्यरूप में परिणत करूंगा।"

जीवों के प्रति दया नहीं, जीवों को शिव समझकर, शिव मानकर उसी शिव-बुद्धि से उनकी सेवा करना—क्या विलक्षणता थी इस वाक्य में ? क्या अन्तर था 'दया' और 'सेवा' में ? कौन-सा गूढ़ गंभीर अर्थ छिपा था श्रीरामकृष्ण के इस सूत्र-वाक्य में ? ऐसा क्या था इसा ऋचा में कि स्वामीजी इसे सुनकर ही विस्मय-विमुग्ध हो गये थे, चकित-चमत्कृत हो गये थे और एक अन्तर-आह्लाद से भर कर उन्होंने कहा—समय आने पर इसका मर्म सारे संसार को बताऊँगा।

श्रीरामकृष्ण ने इस सूत्र के माध्यम से नरेन्द्रनाथ को समझाया था कि दया करने से दया के पात्र से हम अपने को श्रेष्ठ, शक्तिमान, समर्थ और सबल समझने लगते हैं तथा जिस पर हम दया करते हैं उसे अपने से हीन और असक्त। इससे हमारे मन में अहंकार का भाव जगता है, अपने में उच्चता का बोध होता है, भेद-बुद्धि उत्पन्न होती है। और दया करके हम अपने अहंकार को तुष्ट कर एक प्रकार का भोग ही भोगते हैं। इस प्रकार दया का भाव हमें गिराता है जबकि सेवा का भाव, निःस्वार्थ सेवा का भाव, नहीं-नहीं, जीव को शिव मानकर उनकी सेवा करने का भाव हमें पूजा करने की स्थिति में

ला खड़ा करता है। सही अर्थ में हम सेवा नहीं, जीव शिव की पूजा करते हैं। पूजा में अहंकार के इस भाव में आने पर जिसकी सेवा हम करते हैं वह हमारा कृतज्ञ नहीं होता बल्कि हम उसके कृतज्ञ हैं, क्योंकि उसने हमें वह अवसर प्रदान किया कि उसके चरणों पर हम सेवा के कुछ सुमन अर्पित सकें। स्वभावतः सेवा, शिवज्ञान से जीव की सेवा का भाव हमारे अहंकार को झाड़ता है, हमारे को शुद्ध एवं पवित्र करता है। निरहंकृत कर्म, अहंकार भाव से शून्य होकर किया गया कर्म हमारे को वृत्तिहीन करता है, उसे निर्मलता प्रदान करता है, स्वच्छता और शुद्धता प्रदान करता है। निरहंकृत चित्त वाला पुरुष ही तो ब्रह्म है। अतः सेवा हमें ब्रह्मत्व में रूपान्तरित करने का साधन है। स्वामीजी ने श्रीरामकृष्ण के सेवा-मंत्र में छिपे सारे रहस्यों को जैसे एकबारगी अपनी दिव्य दृष्टि से देख लिया था। इसी से वे उस दिन चकित-चमत्कृत थे, भाव-विह्वल थे। श्रीरामकृष्ण के प्रति कहा था 'इस पगले ब्राह्मण के चरणों पर मेरा मस्तक बिक गया। स्वामी सेवाधर्म शिव-ज्ञान से जीव-सेवा करने के भाव का सूत्रपात श्रीरामकृष्ण के इसी कथन उस दिन हुआ था।

श्रीरामकृष्ण ने नरेन्द्रनाथ को उस दिन जो कहा था, कुछ वैसा ही कभी श्रीकृष्ण ने कहा परब्रह्म को प्राप्त करने के उपायों में एक महत्तम उपाय यह है कि समस्त प्राणियों के हित साधन अपने को अर्पित कर दिया जाय।

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः। छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः

(गीता ५।

अर्थात् वे पुरुष शान्त परब्रह्म को उपलब्ध होते हैं जो पापरहित एवं संशयहीन होकर सभी जीवों के हित साधन में अपनी रति रखते हैं। इतना ही नहीं, श्रीकृष्ण ने जोर देकर अर्जुन को समझा कि समस्त जीवों का हित करनेवाला (सर्वभूतहिते रताः) मुझे ही उपलब्ध करते हैं। (गीता १२-४)

भक्त प्रह्लाद ने भगवान से वर माँगते हुए कहा था —

न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवम्। कामये दुःखतप्तानां प्राणिनाम् आर्तिनाशनम्

हे प्रभु, मुझे राज्य की कामना नहीं है, न मैं स्वर्ग की ही आकांक्षा रखता हूँ और न पुनर्जन्म से ही मैं घबराता हूँ। मेरी तो एक ही आकांक्षा है, एक ही कामना है कि दुःख से तप्त समस्त प्राणियों की पीड़ा का नाश हो।

भगवान बुद्ध ने अपने शिष्यों से कहा था —

चरथ भिक्खवे चारिकं बहुजन हिताय बहुजन सुखाय।

ईसा मसीह ने अपने शिष्यों को आदेश दिया था—'रोगियों को चंगा करो, कोढ़ियों के कुष्ठ साफ करो, ईश्वर ने तुम्हें निःशुल्क शक्ति दी है, तुम भी मुक्त भाव से सेवा करो।' उन्होंने एक धनी युवक से कहा था 'go thy way sell whatever thou hast and give to the poor and thou shalt have treasure in heaven and come take up the cross and follow me' (The Bible, Mark x 21) अर्थात् 'वापस जाओ, जो कुछ तुम्हारे पास है उन्हें बेच दो और निर्धनों में बाँट दो, तुम्हें स्वर्ग का रत्नकोष मिलेगा और तब आओ, क्रॉस ग्रहण करो और मेरा अनुसरण करो।'[१]

एक बार हजरत मोहम्मद के एक शिष्य ने उनके पास आकर उनसे अनुनय किया—'हजरत, मेरी माँ मर गयी है। आप बताएं कि सबसे मूल्यवान वह कौन-सा दान है जो मैं अपनी माँ की आत्मा की शान्ति और सुख के लिए लोगों को दे सकूं।' हजरत थोड़ी देर सोचते रहे। फिर अरब देश की भीषण गर्मी का ख्याल कर उन्होंने उस शिष्य से कहा—'पानी, अपनी माँ के नाम एक कुआं खुदवाओ और प्यासों को पानी दो।'

गोस्वामी तुलसीदास ने कहा है—

परहित सरिस धर्म नहिं भाई। पर पीरा सम नहिं अधमाई।

मैं आपसे यह कहना चाहता हूं कि सेवा के महत्त्व को सभी धर्मगुरुओं और धर्मों ने निःसंकोच भाव से स्वीकारा है। ईश्वर के स्वरूप और उन्हें प्राप्त करने के उपायों के सम्बन्ध में, उपासना की पद्धतियों के विषय में, जीव और ईश्वर के सम्बन्धों के विषय में विभिन्न धर्मों की अलग-अलग धारणाएँ हैं, भिन्न-भिन्न मान्यताएं हैं, लेकिन जिस एक बात में सभी धर्म सहमत हैं वह है सेवा के माध्यम से ईश्वर की ओर की यात्रा।

लेकिन अन्य धर्मों या धर्मगुरुओं के सेवा के आदर्श से श्रीरामकृष्ण के सेवा के—आदर्श से श्रीरामकृष्ण के सेवा के—आदर्श में भिन्नता है, एक महत्वपूर्ण भिन्नता। सेवा करने पर बल तो श्रीरामकृष्ण के पूर्व के प्रायः सभी धर्माचार्यों ने दिया किन्तु जीव की सेवा शिव भाव से करने का निर्देश इनके पूर्व के किसी धर्मगुरु ने नहीं दिया था। सेवा की दृष्टि में भी अन्तर है। हम किसी प्यासे को पानी देकर, किसी रोगी को दवा और पथ्यादि देकर, किसी छात्र को निःशुल्क शिक्षा देकर उसकी सेवा कर सकते हैं। और हर सेवा सेवा ही है—एक महत्वपूर्ण साधना। लेकिन ऐसी सेवा से मन के किसी एकान्त कोने में छिपे अहंकार के जग जाने की संभावना से इन्कार नहीं किया जा सकता। ऐसी सेवा में भी एक प्रतिदान की भावना उत्पन्न हो सकती है। नाम और यश की कामना जग सकती है। 'मैंने बहुत लोगों की सेवाएं की हैं'—यह भाव भी जग जा सकता है। वैसे, नाम और यश की आकांक्षा से की गयी सेवा का भी कोई कम महत्व नहीं है। समाज को स्वस्थ रखने के लिए किसी न किसी रूप में सेवा करने का भाव हममें रहना ही चाहिए। लेकिन श्रीरामकृष्ण थे एक आदर्श गुरु। उन्होंने अपने शिष्यों को जिस सेवा को करने का उपदेश दिया वह सेवाभाव से नहीं, पूजा-भाव से। उन्होंने सेवा को पूजा का प्रतिरूप बनाकर प्रस्तुत किया। इससे सेवा भी हो सकती है और अहंकार से भी मुक्त रहा जा सकता है। हम जिसकी सेवा करने जा रहे हैं वह कोई जीव नहीं है साधारण जीव नहीं है, बल्कि वह तो साक्षात् शिव है। परमपिता परमात्मा ही अभी हमारे समक्ष एक प्यासे के रूप में, एक कुष्ठ रोगी के रूप में, एक निर्धन भिखारी के रूप में, एक छात्र के रूप में, एक आर्त प्राणी के रूप में, एक वेश्या और एक कुलटा के रूप में प्रस्तुत हो गये हैं, उपस्थित हो गये हैं। हम प्यासे को नहीं, शिव को पानी दे रहे हैं; हम भिखारी को नहीं, शिव को अन्न दे रहे हैं; हम कोढ़ी की नहीं, शिव की शुश्रूषा कर रहे हैं, हम छात्र को नहीं, शिव को शिक्षा दे रहे हैं, हम वेश्या और कुलटा को नहीं शिव को गंदे वातावरण से निकाल रहे हैं। यह भाव है जीव को देखने का। यहाँ सेवा सेवा नहीं रह कर पूजा में ढल जाती है। हर जीव शिव का प्रतिरूप हो जाता है।

हमारी पूजा से शिव कृतज्ञ हो रहे हैं—यह भाव भी हमारे मन में नहीं जगता। शिव की पूजा कर हम कृतज्ञ होते हैं। हम निहाल होते हैं। यह देखकर कि शिव ने हमारी पूजा स्वीकार की। इसी प्रकार जब शिव-भाव से हम जीव की सेवा करते हैं तब हम स्वयं उपकृत होते हैं, यह देखकर कि शिव ने हमें सेवा के द्वारा अपनी पूजा करने का अवसर प्रदान किया। जिसकी हम सेवा करते हैं वो हमसे उपकृत हुआ, यह भाव ही हमारे मन में नहीं पनपता।

फिर एक शराबी, एक वेश्या, एक रोगी, एक पिपासित-क्षुधार्त प्राणी, एक निर्धन छात्र—इन सबको देख कर, इनकी हीनदशा देखकर, हमारे मन में इनके प्रति घृणा का भाव नहीं जगता। ये सब शिव हैं। शिव ने कैसे-कैसे वेश बनाये हैं। कैसी-कैसी दशा कर रखी है अपनी! और अगर ऐसी दशा उन्होंने अपनी नहीं कर ली होती, अगर ऐसे-ऐसे रूप उन्होंने धारण नहीं कर लिये होते तो हमें उस विराट् शिव की सेवा करने का कस्तूरी अवसर ही कैसे मिलता? तब फिर उस शिव की निष्काम निरहंकृत पूजा करने की वासन्ती वेला ही हमें कहाँ मिलती? धन्य हैं शिव, जिन्होंने अपनी अनन्त-अशेष करुणा से हमारे चित्त की शुद्धि के लिए, हमारे मन के मार्जन के लिए स्वयं दुःख उठाकर उन्होंने ऐसे-ऐसे दुःखियों का रूप धारण कर लिया। हम कृतज्ञ हैं उस परम शिव के जिनकी अहैतुकी कृपा से सरलता पूर्वक हम अपने चित्त की डाल पर सेवा के फूल उगा सकते हैं।

स्वामी विवेकानन्द ने अपने गुरु के मुख से, इसी से, जब दया की जगह जीव की शिव-भाव से सेवा करने का संदेश सुना तो उनका हृदय खिल उठा। समय आने पर उन्होंने संसार में डंके की चोट पर घोषणा की—'पवित्र होना और दूसरों का हित करना—सभी उपासनाओं का यही सार है। जो दरिद्रों और रोगियों में शिव को देखता है, वही शिव की सच्ची पूजा करता है, और यदि वह केवल प्रतिमा में शिव को देखता है, तब उसकी पूजा मात्र प्रारंभिक है।"

शिकागो से ३ मार्च, १८९४ को अपने एक शिष्य को लिखे पत्र में स्वामीजी ने बड़ी गंभीरता से लिखा था—

'हमें विश्वास है कि सभी प्राणी ब्रह्म हैं। प्रत्येक आत्मा मानो बादल ढँके हुए सूर्य के समान है और एक मनुष्य से दूसरे का अन्तर केवल यही है कि कहीं सूर्य के ऊपर बादलों का घना आवरण है और कहीं कुछ पतला। हमें विश्वास है कि यहीं सब धर्मों की नींव है, चाहे कोई उसे जाने या न जाने। और मनुष्य की भौतिक, मानसिक अथवा आध्यात्मिक उन्नति के सारे इतिहास का मूल तत्व यही है कि एक ही आत्मा भिन्न उपाधि या आवरण के द्वारा अपने को प्रकाशित करती है।

हमें विश्वास है कि यही वेद का चरम रहस्य है।

हमें विश्वास है कि हर एक मनुष्य को चाहिए कि वह दूसरे मनुष्य को इसी तरह, अर्थात् ईश्वर समझकर, सोचे और उससे उसी तरह अर्थात् ईश्वर-दृष्टि से वर्ताव करें; उसकी किसी तरह भी घृणा या निन्दा करना अथवा उसे हानि पहुँचाने की चेष्टा करना उसे बिल्कुल उचित नहीं। यह केवल संन्यासी का ही नहीं, वरन् सभी नर-नारियों का कर्त्तव्य है।'[1]

---

१. पत्रावली : प्रथम भाग : रामकृष्ण आश्रम, नागपुर : पृ० ११२-१३

वस्तुतः जीव को शिव मानकर जब हम आचरण करना नहीं सीखेंगे तब तक हम न तो अपना स्वरूप ही जान सकेंगे और न लोकमंगल का ही कार्य कर सकेंगे।

सेवा स्वयं को जानने का एक मनोरम प्रयत्न है।

सेवा आत्मज्ञान का एक मंगल प्रभात है।

सेवा विश्व-जीवन से एकात्म होने का सुरम्य संगीत है

सेवा विषमता और विभेद की मरुभूमि में समता की शीतल सरिता है।

सेवा एक मंत्र है, आत्मसार का।

सेवा एक तंत्र है, आत्म साक्षात्कार का।

सेवा एक यंत्र है, उपलब्ध समय को सार्थक करने का।

जहाँ सेवा है, वहाँ द्वैत नहीं है आत्मा परमात्मा का, मैं और तू का।

जहाँ सेवा है, वहाँ कामना या राग नहीं है।

जहाँ निष्कामता है वहीं जीवन की धन्यता है, शान्ति है, आनन्द है।

मनुष्य कुछ किये बिना रह नहीं सकता। हर क्षण उसे कोई न कोई कर्म करते ही रहना होता है। और अगर कुछ करना ही है तो हमें सेवा ही करनी चाहिए। सेवा का राग न रोग है न भोग। अगर हम सेवा नहीं करेंगे तो भोग ही करना होगा। कामना से किया गया कर्म ही भोग है। और ऐसा कोई भोग नहीं जिसकी परिणति रोग में नहीं होती हो। भोग हमें बांधता है—सुख-दुःख के बन्धन में, माया-मोह के बन्धन में। भोग और शान्ति में वैर है। हमें यदि शान्ति चाहिए, आनन्द चाहिए तो भोग से विरत करना होगा अपने को और सेवा में समर्पित करना होगा स्वयं को।

सेवा हमें स्वाधीन करती है, बाँधती-नहीं। यह मेरा शरीर है और मैं एक शरीर हूँ यह बोध जब तक रहेगा, सेवा नहीं हो सकती : सेवा के लिए यह मानकर चलना होता है कि मेरा कुछ नहीं है और न मैं कुछ हूँ। सारा जगत प्रभु का प्रकाश है, प्रभु का है। अतः मैं जगत अर्थात् प्रभु का सेवक ही हो सकता हूँ और कुछ नहीं। अपने अमर जीवन के लिए स्वाधीन जीवन के लिए, चिन्मय जीवन के लिए, अपने लिए कुछ नहीं किया जा सकता। जो कुछ किया जायगा वह प्रभु के लिए। अपने सुख के लिए किया गया कर्म बन्धन है। ईश्वरमय जगत के मंगल के लिए किया गया कर्म सेवा है।

सेवा जीव रूपी शिव से हमें जोड़ने का सबसे बड़ा साधना है। अतः सेवा सबसे बड़ा योग है।

सेवा का फूल निष्कामता के तपोवन में खिलता है। प्रभु को समस्त जगत् और जीवों में देखने की दृष्टि की डाल पर सेवा की कलिका चटकती है। अतः सेवा सबसे बड़ा ज्ञान है।

भक्ति 'भज' धातु से निष्पन्न होती है। 'भज् सेवायाम्' अर्थात् भक्ति सेवा को कहते हैं। जीव को शिव मानकर जब हम उनकी सेवा करते हैं तब हम मानो शिव की भक्ति ही तो करते हैं। 'यद्यत् कर्म करोमि तत्तदखिलं शम्भो तवाराधनम्।' हे शिव, मेरे सारे कर्म तुम्हारी ही आराधनाएं हैं। अतः सेवा सब से बड़ी भक्ति है।

और सेवा से निष्कलुष, निर्मल और कोई कर्म नहीं हो सकता। अतः सेवा सर्वोत्तम कर्म है।

यानी सेवा सर्वोत्तम योग है, महत्तम योग है, महत्तम ज्ञान है, श्रेष्ठतम भक्ति है और शुद्धतम कर्म है।

सेवा के मूल में त्याग का भाव होता है। सेवा से त्याग की सामर्थ्य आती है। त्याग के सरोवर में प्रेम का कमल खिलता है। और प्रेम प्रभु को प्रिय है—'रामहि केवल प्रेम पियारा।' तो सेवा से त्याग, त्याग से प्रेम और प्रेम से प्रभु का एक सूत्र जुड़ा हुआ है। प्रेम और ज्ञान में कोई भेद नहीं है। दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। अतः समस्त तत्वों के मूल में है सेवा।

स्वामी विवेकानन्द ने इसी सेवा और त्याग पर सदैव जोर दिया और विश्व मानव को एकात्मता के तार में जोड़ने का प्रयत्न किया। स्वामी ब्रह्मानन्द को लिखे अपने एक पत्र में स्वामीजी ने कहा—'त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः (एकमात्र त्याग के द्वारा अमृतत्व की प्राप्ति होती है) त्याग, त्याग—इसी का प्रचार अच्छी तरह करना होगा। त्यागी हुए बिना तेजस्विता नहीं आने की।'[2] इसी प्रकार एक पत्र में स्वामीजी ने लिखा—'जिस देश में करोड़ों मनुष्य महुए के फूल खाकर दिन गुजारते हैं, और दस-बीस लाख साधु और दस-बारह करोड़ ब्राह्मण उन गरीबों का खून चूसकर पीते हैं और उनकी उन्नति के लिए कोई चेष्टा नहीं करते, क्या वह देश है या नरक? क्या वह धर्म है या पिशाच का नृत्य? भाई, इस बात को गौर से समझो—

सर्वशास्त्र पुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम्। परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्॥

—सब शास्त्रों और पुराणों में व्यास के ये दो वचन हैं—परोपकार से पुण्य होता है और पर-पीड़न से पाप।"[3]

बड़ी करुणा से भर कर स्वामीजी ने २६ अक्टूबर १८९४ को शिकागो से आलासिंगा को लिखा था—'मेरी ओर मत ताको, अपनी ओर देखो। ......वत्स, प्रेम कभी निष्फल नहीं होता; कल हो चाहे परसों, या युगों के बाद पर सत्य की जय अवश्य होगी। प्रेम ही मैदान जीत लेगा। क्या तुम अपने भाई—मनुष्य जाति को प्यार करते हो? ईश्वर को फिर कहाँ ढूँढने चले हो, ये सब गरीब, दुःखी, दुबले मनुष्य क्या ईश्वर नहीं हैं? इन्हीं की पूजा पहले क्यों नहीं करते? गंगातट पर फिर कुआँ खोदने की चेष्टा क्यों? प्रेम की असाध्य-साधिनी शक्ति पर विश्वास करो। क्या तुम्हारे पास प्रेम है? तब तो तुम सर्वशक्तिमान हो। क्या तुम सम्पूर्ण निःस्वार्थ हो? तो फिर तुम्हें कौन रोक सकता है?"[4]

त्याग और प्रेम, सेवा के ये दो चरण हैं। मुझे नाम नहीं चाहिए, धन-वैभव नहीं चाहिए, मुझे कुछ नहीं चाहिए—यह भाव आये बिना सेवा हो ही नहीं सकती। मेरा हर कर्म प्रभुरूपी जीव और जगत को समर्पित है, मेरी हर शक्ति, हर वस्तु अनन्त जीवों में निवास करनेवाले शिव को अर्पित है, इस भाव के बिना सेवा हो ही नहीं सकती। और फिर, जिसकी हम सेवा करते हैं उसके प्रति अशेष प्रेम हुए बिना भी सेवा नहीं हो सकती।

---

२. पत्रावली : प्रथम भाग : पृ० १८१
३. वही : „ „ : पृ० १२३
४. वही : „ „ : पृ० १८३

जगत का सत्य क्या है ? सात्विक दृष्टि से देखा जाय तो इस विश्व में एक ही परम सत्ता है जो विभिन्न रूपों में, विभिन्न जीवों में अपने को भासमान कर रही है। कोई व्यक्ति केवल मेरा बन्धु नहीं है बल्कि मेरा निज स्वरूप ही है। जो सत्ता मुझमें व्याप रही है, वही उसमें भी व्यापती है। यदि शिव हूँ तो सारा जगत मेरी ही सत्ता का प्रसार है, मेरा ही आत्म-प्रसार है। ऐसी स्थिति में, संसार के किसी भाग के किसी प्राणी या जीव को आहत कर मैं स्वयं को आहत करता हूँ, उस परम चैतन्य परमात्मा के किसी स्वरूप को ही आहत करता हूँ। अतएव, जब हमलोग अपने को दूसरों से अलग एक भिन्न सत्ता के रूप में देखते हैं, अपने को सीमित दायरे में आबद्ध कर लेते हैं और अपने निजी हितों के साधन में ही संतुष्ट होने लगते हैं, तब हम एक व्यापक, एक चिरन्तन, एक शाश्वत सत्य को नकारते होते हैं और एक झूठ को, एक धोखे को, एक भ्रम का सृजन करते होते हैं, और इस प्रकार एक गहरे अज्ञान में स्वयं को डालकर एक मिथ्या अहं से अपने को जोड़कर अनेकानेक दुःखों को भोगने के लिए हम अभिशप्त हो उठते हैं। लेकिन जब हम दूसरों को दूसरा नहीं मानकर जितना ही उन्हें अपना स्वरूप समझते हैं और इस प्रकार उन परमेश्वर-जीवों के प्रति त्याग और प्रेम के भाव से सराबोर होकर उन्हें अपनी सेवा का नैवेद्य अर्पित करते हैं उतना ही हम सत्य के अधिक करीब होते हैं। स्वभावतः सेवा हमें 'स्व' की पहचान में केवल सहायता ही नहीं करती बल्कि सत्य के समीप भी ला खड़ा करती है। अतएव—

स्व की पहचान ही सत्य बोध की भूमिका है।

सत्य-बोध ही मुक्ति का सोपान है।

सेवा ही सत्य के कैलाश शिखर पर ले जानेवाली संगिनी है।

स्वभावतः सेवा श्रद्धा की प्रतिरूप है।

श्रद्धा ही अपनी पूर्णता में आकर सेवा में रूपायित हो जाती है। क्योंकि, श्रद्धा से किया गया हर कर्म निःस्वार्थ होगा, प्रेम पूर्ण होगा, निष्काम होगा। श्रद्धा की भवानी ही सेवा में ढल कर सत्य के शिव से तदाकार हो जाती है—अर्द्धनारीश्वर हो जाती है। अर्थात् सेवा हमें खंड से अखंड की ओर सीमा से असीम की ओर, लघुता से पूर्णता की ओर तथा मिथ्या से सत्य की ओर ले जाती है। स्वामी विवेकानन्द कहते हैं—'जिसने एक भी गरीब व्यक्ति की सेवा और सहायता बिना उसकी जाति या सम्प्रदाय का ख्याल किये हुए, उसमें शिव का बोधकर, की है उससे शिव अधिक प्रसन्न होते हैं बजाय उस व्यक्ति के जो शिव को केवल मंदिरों में ही देखता है।...जो शिव की सेवा करना चाहता है, उसे उनकी संतानों की अवश्य ही सेवा करनी चाहिए। और यह सुन्दर कर्म है। इसी शक्ति से चित्त-शुद्धि होती है और तब शिव, जो प्रत्येक प्राणी में निवास कर रहे हैं, अभिव्यक्त हो उठेंगे।'[5] बड़े आवेग से स्वामीजी ने एक युवक से, जिसे मानसिक शान्ति नहीं मिल रही थी, जीसस क्राइस्ट की भाँति उपदेश दिया था—'मेरे बच्चे, यदि तुम्हें मेरे शब्दों के प्रति थोड़ा भी आदर भाव हो तो तुम्हें करने के लिए मेरा प्रथम परामर्श यह है कि अपने कमरे की सभी खिड़कियों और दरवाजों को खोल दो...अनेकानेक लोग पतन और दरिद्रता के गर्त में डूबे हुए हैं...उनके पास जाओ और उत्साह तथा परिश्रमपूर्वक उनकी

५. कम्पलीट वर्क्स ऑफ स्वामी विवेकानन्द : खंड ३ (१९४८) पृ० १४२

सेवा करो, काफी सावधानी के साथ उनकी शुश्रूषा करो, जो भूखा है उसे भोजन दो, अनपढ़ों को शिक्षा दो और अगर इस रीति से तुम अपने भाइयों की सेवा करना शुरू कर दो…तब तुम निश्चय ही शान्ति और सान्त्वना पाओगे।"

आज जीव की शिव-दृष्टि से सेवा करने की जितनी आवश्यकता है उतनी शायद कभी नहीं थी। केवल अपनी आध्यात्मिक साधना के लिए ही नहीं, केवल परम सत्य की उपलब्धि के लिए ही नहीं, केवल स्वरूप के साक्षात्कार के लिए ही नहीं बल्कि वर्तमान विभ्रान्त, पथहारा और विसंगतियों से पूर्ण समाज के स्वास्थ्य और सौन्दर्य के संवर्धन के लिए भी जीव की शिव-दृष्टि से सेवा करने की प्रयोजनीयता है। एक डाक्टर अपने रोगियों की शिव-दृष्टि से सेवा करे, शिक्षक अपने छात्रों में शिव का दर्शन कर उन्हें शिक्षा प्रदान करे, राजनेता जन-गण में शिव का साक्षात्कार कर उनकी सेवा करे, दफ्तर का कर्मचारी, कारखाने का मजदूर, खेतों में काम करने वाला किसान हर कोई शिव के लिए, केवल शिव के लिए सेवा करने लगे तब हमारे समाज और राष्ट्र का स्वरूप कितना सुन्दर, कितना सुघड़ और कितना भद्र हो जायगा, इसकी सहज ही कल्पना की जा सकती है। इसी से श्रीरामकृष्ण ने कभी स्वामी विवेकानन्द से कहा था 'दया नहीं रे, जीव की सेवा करो शिव-भाव से।'

भगवान् श्रीरामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्दजी महाराज से मेरी आन्तरिक प्रार्थना है कि वे हम सब में जीव की शिव-दृष्टि से सेवा करने की शक्ति प्रदान न करें ताकि ऐसी सेवा के द्वारा हम अपने जीवन को धन्य कर सकें, अपने प्राप्त समय का सदुपयोग कर सकें, श्रद्धा, प्रेम और त्याग की त्रिवेणी में नहाकर सेवा के सुमन लेकर जीव में बसे शिव की मौन-नीरव अर्चना-आराधना कर सकें। जय श्रीरामकृष्ण ! जय स्वामीजी !!

●

इस दुर्लभ मानव-जन्म को पाकर भी जो इसी जीवन में भगवान् को पाने की चेष्टा नहीं करता उसका मानव जन्म लेना ही बेकार है।

—श्रीरामकृष्ण देव

सेवा मूर्ति श्रीरामकृष्ण परमहंस

ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्द

विश्व के आध्यात्मिक इतिहास में श्रीरामकृष्ण परमहंस का स्थान अतुलनीय है। उनके जीवन में आध्यात्मिक अनुभूतियों की जितनी विविधता दिखायी देती है, उतनी और किसी महापुरुष के जीवन में दृष्टिगोचर नहीं होती। उनका जीवन मानो धर्म और अध्यात्म का एक विराट् प्रयोग-शाला था, जहाँ अनेक नवीन भावों का आविष्करण और पुरस्करण सम्पन्न हुआ था। उनके जीवन के द्वारा प्रकट सेवाभाव उनकी इन्हीं आध्यात्मिक अनुभूतियों का बाहरी प्रकाश था।

श्रीरामकृष्ण परमहंस निर्विकल्प समाधि की उपलब्धि कर अद्वैतानुभूति में प्रतिष्ठित हो गये थे। फलस्वरूप, सर्वत्र उन्हें उसी एक आत्मज्योति के दर्शन होते। उनकी अवस्था "आत्मवत् सर्वभूतेषु" की हो गयी थी। उनकी यह एक-त्वानुभूति इतनी तीव्र और गहरी थी कि किसी व्यक्ति के हरी-हरी दूब को रौंदते हुए चलने पर उन्हें लगा कि वह उनकी छाती को ही रौंदते हुए चला जा रहा है। दो माझियों में लड़ाई हो जाने से एक ने दूसरे की पीठ पर जोरों से तमाचा जड़ दिया। श्रीरामकृष्ण को ऐसा लगा कि वह तमाचा उन्हें ही लगा है और वे पीड़ा से कराह उठे। इनकी पीठ पर ऊँगलियों के निशान उभर आये, मानो माझी ने उन्हीं की पीठ पर तमाचा मारा हो।

ये घटनाएँ अविश्वसनीय होने पर भी सत्य हैं। श्रीरामकृष्ण का सेवाभाव उनके इसी एक-त्वानुभव पर खड़ा था। वेदान्त दर्शन का सर्वोच्च लक्ष्य यही एकत्वानुभूति है। श्रीरामकृष्ण ने वेदान्त को अपने जीवन में उतार कर यह प्रदर्शित कर दिया कि वह केवल बुद्धि का व्यायाम नहीं है, केवल तर्कणाओं और युक्तिविचारों का जाल नहीं। बल्कि जीवन का अनुभूतिगम्य सत्य है। उन्होंने यह भी प्रदर्शित किया कि वेदान्त को व्यावहारिक बनाया जा सकता है, और इस व्यावहारिक वेदान्त को उन्होंने "सेवा" के नाम से पुकारा। उनका तर्क यह था कि जब सारा संसार उसी ईश्वर से निकला है, उसी में प्रतिष्ठित है और एक दिन उसी में लीनता को प्राप्त हो जायगा, तो फिर ईश्वर छोड़ संसार में और क्या है? इसका यही तात्पर्य हुआ कि वही ईश्वर, जो मुझमें समाया है, एक पीड़ित के भीतर भी छिपा है। तो क्या यह उचित नहीं कि हम पीड़ित में निहित उस ईश्वर की सेवा के लिए आगे बढ़ आयें। जो ईश्वर पर विश्वास करता हुआ भी दुःखी के भीतर विराजमान ईश्वर की सेवा के चेष्टाशील नहीं है, श्रीरामकृष्ण की दृष्टि में उस व्यक्ति का ईश्वर में विश्वास होना या न होना बराबर है। इस दृष्टि से उन्होंने सेवा पर एक नया प्रकाश डाला और इस प्रकार उसे दया से भिन्न कर दिया।

कहा गया है—'मातृ देवो भव, पितृदेवो भव, आचार्य देवो भव, अतिथि देवो भव, 'मैं तुम लोगों को आगे का पाठ पढ़ाता हूँ—'दरिद्रदेवोभव, पीड़ित-देवो भव, आर्तदेवो भव।' उन्होंने कहा था—

'सारी उपासना का सार है—पवित्र होना और दूसरों की भलाई करना। जो शिव को दीन-हीन में, दुर्बल में और रोगी में देखता है, वही वास्तव में शिव की उपासना करता है, और जो शिव को केवल मूर्ति में देखता है, उसकी उपासना तो केवल प्रारम्भिक है। जो मनुष्य शिव को केवल मन्दिरों में देखता है, उसकी अपेक्षा शिव उस व्यक्ति पर अधिक प्रसन्न होते हैं, जिसने बिना किसी प्रकार जाति, धर्म या सम्प्रदाय का विचार किये, एक दीन-हीन में शिव को देखते हुए उसकी सेवा और सहायता की है।'

स्वामी विवेकानन्द ने सेवा की अपनी प्रेरणा अपने गुरुदेव से प्राप्त की थी। श्रीरामकृष्ण का जीवन ही सेवामय था, वे सही अर्थों में सेवामूर्ति थे। अन्तिम समय में जब उन्हें गले का कैंसर हो गया था और चिकित्सकों ने उन्हें बोलने से मना किया था, तब भी वे आगत जिज्ञासुओं से वार्तालाप करना बन्द न करते। सेवकों और भक्तों के अधिक निषेध करने पर कहते, 'यदि एक व्यक्ति की सहायता करने के लिए मुझे बीस हजार जन्म लेने पड़े तो स्वीकार है।' सेवा की उनकी यह आन्तरिकता उनके सर्वात्मबोध पर प्रतिष्ठित थी, जिसका बड़ा ही मार्मिक परिचय हमें उनके जीवन की एक घटना से मिलती है।

पंडित शशधर शास्त्री तर्क चुड़ामणि श्रीरामकृष्ण की अस्वस्थता का समाचार सुन उन्हें देखने आये। शास्त्री का नाम उनकी विद्वता और पाण्डित्य के लिए बंगाल भर में विख्यात था। तब श्रीरामकृष्ण गले के रोग के कारण अन्न ग्रहण नहीं कर सकते थे। उन्हें तीव्र वेदना हुआ करती। शास्त्रीजी ने उन्हें सुझाव दिया, 'महाराज, हमारे योगशास्त्रों का कथन है कि यदि योगी अपने किसी रुग्न अंग पर मन केन्द्रित करें, तो उससे अंग स्वस्थ हो जाता है। आप तो महान योगी हैं। आप क्यों नहीं अपने मन को गले पर एकाग्र करके रोग को ठीक कर लेते।' इस पर श्रीरामकृष्ण ने कुछ खीज के स्वर में कहा, "कैसे पण्डित हो जी। जिस मन को मैंने जगदम्बा के पदपद्मों में समर्पित कर दिया है, तुम कहते हो कि उसे मैं वहाँ से वापस ले लूं और इस हाड़मांस के सड़े-गले पिण्ड पर लगा दूं। ऐसी बात कहते तुम्हें लज्जा नहीं आती।" और सचमुच शास्त्रीजी लज्जित हो गये। उन्होंने क्षमायाचना कर कुछ समय बाद श्रीरामकृष्ण से विदा ली। शास्त्री के जाने के बाद नरेन्द्रनाथ ने श्रीरामकृष्ण को पकड़ा, कहा, 'महाराज, शास्त्रीजी ने तो ठीक ही कहा। आपको इतना कष्ट है, आप कुछ खा-पी नहीं सकते, इसलिए हम लोग भी अत्यन्त दुःखी हैं। आप, कुछ कम से कम, हम लोगों के लिए अपने मन को गले पर केन्द्रित कीजिए न।' श्रीरामकृष्ण बोले, 'आखिर तू भी वही कहता है रे। मैं यह नहीं कर सकता।' पर जब नरेन्द्र ने खूब जोर दिया, तो उन्होंने कहा, 'मैं कुछ नहीं जानता, मां जगदम्बा जैसा करेंगी वैसा होगा।' नरेन्द्र इस पर बोले' महाराज, आप जो कहेंगे, सो जगदम्बा करेंगी। आप हम लोगों के लिए माँ से कहिए न।' लाचार हो श्रीरामकृष्ण ने कहा, 'ठीक है, देखूंगा।' थोड़ी देर बाद नरेन्द्र ने आकर पूछा, 'महाराज, आपने हमारी बात माँ से कही थी।' वे उत्तर में बोले हाँ, मैंने माँ से कहा—माँ, नरेन कहता है कि इस रोग के कारण मैं कुछ खा-पी नहीं सकता हूं, इसलिए इन लोगों को बहुत कष्ट होता है।

वह सन् १८८४ ई० की घटना है। श्रीरामकृष्ण देव दक्षिणेश्वर स्थित काली-मंदिर के अपने कमरे में भक्तों से घिरे बैठे हुए थे। नरेन्द्र भी वहाँ उपस्थित थे, जो बाद में स्वामी विवेकानन्द के नाम से विश्वविख्यात हुए। वार्तालाप के प्रसंग में वैष्णव-मत की बात उठी। इस मत के सारे

तत्व को संक्षेप में व्यक्त करते हुए श्रीरामकृष्ण बोले "इसके अनुसार ये तीन बातें नित्य करणीय —नाम में रुचि, जीव पर दया, वैष्णव की सेवा। जो नाम है, वही ईश्वर है—नाम और नामी को अभिन्न जानकर सर्वदा अनुरागपूर्वक नाम जपना चाहिए, भक्ति और भगवान, कृष्ण और वैष्णव को अभिन्न जानकर सर्वदा साधु भक्तों के प्रति श्रद्धा और उनकी सेवा करनी चाहिए, तथा यह सारा विश्व कृष्ण का ही है ऐसा समझकर सब जीवों पर दया—"। "सब जीवों पर दया" इतना कहकर ही श्रीरामकृष्ण समाधिस्थ हो गये। वे वाक्य को पूरा भी न कर पाये। कुछ समय पश्चात् जब उनको अर्धचेतना लौटी तो वे कहने लगे, 'जीवों पर दया—जीवों पर दया। दूर हो मूर्ख। तू कीटाणुकीट। जीवों पर दया करेगा। दया करने वाला तू होता कौन है। नहीं—जीवों पर दया नहीं शिवज्ञान से जीवों की सेवा।"

नरेन्द्र यह सुनते ही चमत्कृत हो उठे। उन्हें लगा कि "दया" और 'सेवा' का ऐसा अन्तर सम्भवतः पहले किसी ने नहीं किया था। "दया" कहने से प्रतीत होता है मानो दया करने वाला बड़ा है और जिस पर दया की जा रही है, वह छोटा। इस प्रकार दया की प्रक्रिया ऊँच और नीच के भेद को बनाये रखकर चलता है। पर 'सेवा' करने से, 'शिव-ज्ञान से जीवों की सेवा' कहने से बोध होता है कि वही शिव जो स्वयं सेवा करने वाले के भीतर विराजमान हैं, उसके भीतर भी बसे हुए हैं, जिसकी सेवा की जा रही। इस प्रकार यहाँ भेद का नहीं, अभेद का प्रकाश है, ऊँच-नीच का नहीं, समानता का व्यवहार है।

वे वही नरेन्द्रनाथ थे जो निर्विकल्प समाधि के आनन्द में डूबे रहना चाहते थे। पहले उन्हें सेवा आदि की बात भाती नहीं थी। एक समय जब वे समाधि में डूबने के लिए अत्यन्त व्याकुल थे, तो श्रीरामकृष्ण ने उन्हें एकान्त में बुलाकर स्नेहपूर्वक पूछा था, 'नरेन, तू क्या चाहता है ?' इस पर नरेन्द्रनाथ ने उत्तर दिया था, 'महाराज, आशीर्वाद दीजिए कि मैं योगी शुकदेव की नाईं निर्विकल्प समाधि के आनन्द में अहर्निश डूबा रहूँ, और जब समाधि से उतरूँ तो शरीर को बनाये रखने के लिए थोड़ा सा अन्न पेट में डाल लूँ और फिर से समाधि में डूब जाऊँ।' पर यह सुन श्रीरामकृष्ण प्रसन्न नहीं हुए थे अपितु उन्होंने नरेन्द्र का तिरस्कार करते हुए कहा था, 'छिः छिः, नरेन। कहाँ मैं सोचता था कि तू एक विशाल वटवृक्ष के समान होगा, जिसकी छाँह तले लाखों थके-माँदे लोग विश्राम ग्रहण करेंगे और कहाँ देखता हूँ तू अपनी मुक्ति के लिए कातर हो रहा है। अरे बेटा! अपनी मुक्ति की चेष्टा से भी उच्चतर अवस्था है।' और बाद में श्रीरामकृष्ण ने नरेन्द्रनाथ को समझा दिया था कि जीव में शिव को देखकर, नर में नारायण को देखकर उस शिव या नारायण की सेवा हो अपनी मुक्ति के प्रयास से भी बढ़कर है।

तभी तो नरेन्द्रनाथ ने स्वामी विवेकानन्द बनकर अपने गुरुदेव श्रीरामकृष्ण परमहंस के उपदेशानुसार 'दरिद्रनारायण'' की सेवा का प्रवर्तन किया। देश के युवकों का आह्वान करते हुए उन्होंने कहा था—'तुम्हें अभी तक पढ़ाया जाता था, मातृ देवो भव, पितृ देवो भव; मैं कहता हूँ, मूर्ख देवो भव, दरिद्र देवो भव, रोगी देवो भव।

एक बार जब श्रीरामकृष्ण गले के रोग से पीड़ित थे और उन्हें खाया तक नहीं जाता था तब एक दिन नरेन्द्रनाथ ने उनसे कहा कि वे माँ काली से प्रार्थना करें कि वे कुछ खा-पी सकें। श्रीरामकृष्ण ने माँ काली से कहा। नरेन्द्र ने पूछा, क्या आपने माँ से कहा, श्रीरामकृष्ण ने उत्तर

दिया—'हाँ, मैंने माँ से कहा कि नरेन्द्र कहता था कि मैं तुमसे इस रोग को ठीक कर देने के लिए कहूँ, जिससे मैं कुछ खा-पी सकूँ, ताकि ये लोग भी सुखी हों।' तो फिर माँ ने क्या कहा, महाराज! नरेन्द्र अत्यन्त उत्सुक हो उनकी बात को बीच में काट बोल उठे। 'क्या बताऊँ रे,' श्रीरामकृष्ण ने मानो सोच में पड़कर कहा, 'माँ ने मेरी बात सुन कर तुम सब लोगों को इशारे से दिखाकर मुझसे कहा—क्या तू इतने मुँहों से नहीं खाता, जो तुझे खाने के लिए अलग से मुँह चाहिए। यह सुनकर मैं तो चुप हो गया। अब तू ही बता, इसका मैं माँ को भला क्या उत्तर देता! श्रीरामकृष्ण की अनुभूति की ऐसी व्यापकता को देख नरेन्द्रनाथ भी निरुत्तर रह गये, उनके मुख से कोई शब्द न फूटा।

तो वह एकत्वानुभूति थी जो सेवामूर्ति श्रीरामकृष्ण परमहंस के अपूर्व सेवामय जीवन का अटूट प्रेरणा-स्रोत थी।

●

श्रीरामकृष्ण देव की प्रासंगिकता

स्वामी जितात्मानन्द
सचिव, रामकृष्ण आश्रम
राजकोट, गुजरात

(दूरदर्शन पर स्वामी जितात्मानन्द द्वारा अंग्रेजी में प्रदत्त वार्त्ता के आधार पर)

श्रीरामकृष्ण ने ऐसे समय में अवतरित हो कर अपना सन्देश दिया जब शोपनहावर और नीत्शे के दर्शन के प्रभाव में तथा डारविन के वैज्ञानिक जड़वाद की उन्नति के समय भगवान और धर्म दोनों आधुनिक 'मानव' के मन से तिरस्कृत हो रहे थे। ऐसे समय श्रीरामकृष्ण ने भगवान की सत्यता को सिद्ध किया तथा भगवद् साक्षात्कार और स्वयं की दिव्यता को प्रकाशित करना मनुष्य जीवन का चरम उद्देश्य बताया।

श्रीरामकृष्ण ऐसे समय में अवतीर्ण हुए जब मेकाले के प्रभाव से साठ प्रतिशत से अधिक भारतीय शिक्षित युवकों ने हिन्दू धर्म को अंध-विश्वास तथा मूर्ति पूजा का धर्म मान कर त्याग दिया था। उसी मूर्ति पूजा के माध्यम से, जगन्माता काली की पूजा से, श्रीरामकृष्ण आध्यात्मिक शक्ति की उच्चतम ऊँचाई तक उठे और उस समय के अत्याधुनिक पाश्चात्य मष्तिष्कों को वैदिक धर्म के गम्भीर संदेशों की ओर आकर्षित किया, जिसका वे उपदेश करते थे।

श्रीरामकृष्ण के वे कौन से सन्देश थे ?

(१) प्रत्येक जीवात्मा की दिव्यता और सभी धर्मों की मूलभूत एकता।

(२) अपनी अभूतपूर्व आध्यात्मिक साधना के द्वारा, श्रीरामकृष्ण ने ईश्वर प्राप्ति के सभी मार्गों की साधना की, जिसमें सूफी-इस्लाम और ईसाई धर्म की साधना भी सम्मिलित है। उन्होंने अनु-

भव किया कि ये सभी रास्ते बाहर और भीतर भगवद् दर्शन के लिए उपयुक्त हैं। अपनी युवा धर्म पत्नी श्री सारदा देवी के साथ अभूतपूर्व पवित्रता के साथ जीवन यापन किया तथा उनको जगन्माता काली के रूप में पूजा की। इस प्रकार स्त्री जाति को आध्यात्मिक गुरु की ऊँचाई तक ले गये जिससे समाज शिक्षित और पवित्र हुआ।

अपनी अभूतपूर्व पवित्रता और महान आध्यात्मिक शक्ति के बावजूद श्रीरामकृष्ण ने जनसामान्य को, मित्रों को, पापियों को स्वीकारा और गले लगाया और उनको मानवीय कुशलता और दिव्यता को ऊँचाई तक ले गये। महान रूसी चित्रकार निकोलस डे रोरिच श्रीरामकृष्ण से प्रभावित हुए और कहा—श्रीरामकृष्ण अच्छे हैं क्योंकि उन्होंने कभी कुछ नष्ट नहीं किया, कभी किसी का त्याग या तिरस्कार नहीं किया। उन्होंने सबको, सब कुछ स्वीकार किया। उन्होंने उन सभी को जो उनके सम्पर्क में आये ऊँचा उठाया। यद्यपि वे सब समय भगवद् भाव में लीन रहते थे, फिर भी वे जीवन के सभी कार्यों, छोटे से छोटे कार्यों को मनुष्य में भगवान की सेवा समझ कर करते थे और इस प्रकार प्राचीन स्थिर धर्म को गतिशील किया। जिससे सामान्य जनता की प्रत्येक क्षेत्र में उन्नति हुई।

आज, जबकि धर्मों के भीतर की प्रतिद्वन्द्विता संसार को तीसरे विश्वयुद्ध की ओर ले जा रही है, जब कि कार्ल सागन के अनुसार तीसरा विश्व युद्ध आधे दिन में समाप्त हो जाएगा और जिसकी तीव्रता प्रति सेकण्ड द्वितीय विश्वयुद्ध के बराबर होगी। नोबेल प्राइज विजेता, प्रसिद्ध इतिहासकार श्री अरनाल्ड्जेटोयेनबी इस धर्मान्यूक्लीयर एज में सुरक्षित रहने का एकमात्र रास्ता श्रीरामकृष्णदेव के उपदेश में पाते हैं।

अपने गुरु श्रीरामकृष्ण के पदचिह्नों पर चलते हुए स्वामी विवेकानन्द ने धर्म को गतिशील, वेदान्त को प्रैक्टिकल, और सभी सांसारिक कार्यों को पवित्र पूजा बना दिया। उन्होंने जन सामान्य को प्रगति का रास्ता दिखाया और तथाकथित निम्न जाति के लोगों को और स्त्रियों को सामाजिक, शैक्षणिक और आर्थिक तथा आध्यात्मिक रूप मे उन्नत किया। उनको उपनयन और संन्यास प्रदान कर उनके लिए उच्चतम आध्यात्मिक संस्कृति का मार्ग खोल दिया।

श्रीरामकृष्ण के बारे में स्वामी विवेकानन्द कहते हैं:

श्रीरामकृष्ण जन सामान्य के उद्धारकर्त्ता, संसार की सभी स्त्रियों के रक्षक, संसार को अन्तर्धार्मिक घर्षण से बचाने वाले, और मानवता को भोगवाद की संस्कृति से बचाने वाले हैं।

आज श्रीरामकृष्ण, पूर्व और पश्चिम में, सभी जगह ईसा और बुद्ध के परिष्कृत रूप में पूजे जाते हैं। जिनके जीवन और संदेश में आधुनिक मानव को सभ्यता की कुंजी प्राप्त हुई। जैसा कि रोमैन रोलैन्ड् ने कहा है और लाखों लोग अनुभव कर रहे हैं कि भौतिक समृद्धि की परिपूर्णता की तुलना में आन्तरिक दिव्यता का प्रकटन अधिक शक्ति, आनन्द और पूर्णता लाता है।

श्रीरामकृष्ण के सर्वश्रेष्ठ आश्चर्य

डा० ओंकार सक्सेना
रांची, बिहार

स्वामी विवेकानन्द ने कहा था, "लाटू श्रीरामकृष्ण देव के सर्वश्रेष्ठ आश्चर्य हैं। उनके स्पर्श मात्र से वे अत्यन्त निम्न अवस्था से उच्चतम आध्यात्मिक सम्पत्ति के अधिकारी हो गये हैं।" श्रीरामकृष्ण देव उन्हें प्यार से लेटो और स्वामी विवेकानन्द उन्हें प्लेटो (ग्रीक दार्शनिक) कहा करते थे। रख्तूराम बिहार में, छपरा जिले के एक गड़रिये के घर जन्मे थे और पांच वर्ष की उम्र में अनाथ हो गये थे। उनके चाचा ने उन्हें कलकत्ते में रामचन्द्र दत्त जो भगवान श्रीरामकृष्ण देव के एक घनिष्ट भक्त थे, का घरेलू नौकर नियुक्त करा दिया था। रामचन्द्र दत्त द्वारा घर में श्रीरामकृष्ण देव के दुहराये गये उपदेशों ने, "भगवान मन देखते हैं, कौन कहाँ पड़ा हुआ है, इसे नहीं देखते।" जो व्याकुल होकर ईश्वर के अतिरिक्त और कुछ नहीं चाहता, उसके ही निकट ईश्वर प्रकट होते हैं।" "निर्जन में उनके लिये प्रार्थना करनी चाहिए, उनके लिए रोना चाहिये, तभी तो उनकी दया होती है।" उनके सरल स्वभाव को श्रीरामकृष्ण देव के चिंतन् में प्रवृत्त कर दिया था।

१८८० के प्रारम्भ में एक रविवार को वे आग्रह कर रामचन्द्र दत्त के साथ दक्षिणेश्वर गये थे। श्रीरामकृष्ण देव ने बालक को देखते ही रामचन्द्र दत्त से कहा था, "मालूम होता है इस लड़के को तुम साथ लाये हो। इसको कहाँ पाया? इसमें साधु के लक्षण जो देखता हूँ।" लाटू ने चरण छूकर प्रणाम किया तथा हाथ जोड़े खड़े रहे। श्रीरामकृष्ण देव कह रहे थे, "जो नित्यसिद्ध हैं उनलोगों को जन्म-जन्म ज्ञान रहता ही है। वे लोग पत्थर से दबे हुए फव्वारे हैं। मिस्त्री इधर-उधर उकसाते-फुसकाते ज्यों हो एक जगह के दबाने वाले पत्थर को हटा देता है, त्यों ही फव्वारे के मुँह से पानी निकलने लग जाता है।" इतना कहकर श्रीरामकृष्ण देव ने लाटू को छू दिया और लाटू किसी और जगत् में पहुँच गये। बहुत देर बाद श्रीरामकृष्ण देव ने पुनः स्पर्श कर इनका भाव संवरण किया तथा रामचन्द्र दत्त से से कहा, "यहाँ इसे बीच्-बीच में भेजना।" तथा लाटू से कहा, "ओ रे! आना। यहाँ बीच-बीच में आना, समझे!" यही लाटू आगे चलकर श्रीरामकृष्ण देव के प्रिय पार्षद स्वामी अद्भुतानन्द कहलाए।

एक दिन रामचन्द्र दत्त द्वारा भेजे गये फल मिष्टान्नादि लेकर लाटू दक्षिणेश्वर पहुँचे थे। श्रीरामकृष्ण देव काली माता का विशिष्ट प्रसाद ग्रहण करने बैठे थे। इनके प्रान्तीय संस्कार पर आघात न हो इस विचार से श्रीरामकृष्ण देव ने लाटू से कहा, 'विष्णु मंदिर का सात्त्विक भोग ग्रहण कर लो।" सरल स्वभाव से लाटू ने कहा, 'आप जो कुछ पायेंगे, मैं वही खाऊँगा, मैं तो आपका प्रसाद लूँगा, उसके अतिरिक्त और कुछ नहीं खाऊँगा।" इस पर निकट उपस्थित रामलाल से श्रीरामकृष्ण देव बोले 'चालाक है रे देखते हो? मैं जो पाऊँगा चतुर उसी में हिस्सा लेना चाहता है।" कामारपुकुर जलवायु परिवर्तन हेतु जाने के पूर्व श्रीरामकृष्ण देव ने एक बार लाटू को अनासक्त भाव से मालिक के घर रहने की शिक्षा

दी थी। लाटू ने यह अनुभव किया कि 'मन के दुःख को दबाकर रखने पर भी वह क्रमशः बढ़ता ही जाता है।" उन्हें श्रीरामकृष्ण देव के कामारपुकुर जाने का दुःख था।

लाटू कहते थे, 'ठाकुर (श्रीरामकृष्ण देव) ने मुझे खींच लिया है। मुझसे कहा करते हैं देखो दिल को साफ रखना और अहंकार के व्यापार की धूल जमने नहीं देना।"

एक बार श्रीरामकृष्ण देव ने निरक्षर लाटू को कुछ अक्षर ज्ञान कराने के लिये प्रयत्न किया था, किन्तु बहुत चेष्टा के बाद स्वरमाला भी नहीं सीखा सके तो छोड़ देना पड़ा था और लाटू श्रीरामकृष्ण देव के निरक्षर किन्तु आध्यात्मिक शिखर पर पहुँचे हुये शिष्य बन गये और साबित कर गये कि परा विद्या के लिये अपरा विद्या में पारंगत होना जरूरी नहीं है।

श्रीरामकृष्ण देव ने एक बार लाटू से पूछा, "अरे! कह सकता है कि भगवान सोते हैं या नहीं?" लाटू ने कहा, 'मेरे लिये यह जानना असम्भव है।" तब फिर श्रीरामकृष्ण देव ने कहा "भगवान को सोने की फुरसत नहीं। वे सारे दिन सारी रात जाग-जाग कर जीव-जन्तुओं की सेवा करते हैं। इसी से निर्भय होकर जीव-जन्तु सो सकते हैं।" इसके बाद लाटू सारी रात ध्यान धारणा में बिताते थे तथा दिन में थोड़ा बहुत विश्राम कर लेते थे।

१८८६ में श्रीरामकृष्ण देव के शरीर छोड़ने के बाद श्री माँ सारदा के साथ वे वृन्दावन गये थे। बाद में वे वाराहनगर में रहे। वहाँ संन्यास ग्रहण करने के बाद उनका नाम अद्भुतानन्द हुआ।

अद्भुतानन्द हमेशा ध्यान में ही रहते थे। स्वामी रामकृष्णानन्द कहा करते थे, "लाटू को पुकार-पुकार कर खिलाए बिना उसको स्वयं खाने का होश ही नहीं रहता।" गिरीश बाबू कहते थे, "गीता के साधु को यदि देखना है तो लाटू को जाकर देखो, स्थितप्रज्ञ मूर्ति।"

१८९७ में स्वामी विवेकानन्द के अमेरिका से लौटने पर पशुपति बाबू के घर उनका सम्मान हुआ था। लाटू वहाँ नहीं देखे गये। इन्हें खोजा गया। तब स्वामी विवेकानन्द ने इनसे कहा था, 'तुम हमारे वही लाटू भाई हो, मैं तुम्हारा वही नरेन भाई है।" उत्तर भारत के भ्रमण के लिए स्वामी विवेकानन्द स्वामी अद्भुतानन्द को भी साथ ले गये थे। कश्मीर के एक प्राचीन मन्दिर के सम्बन्ध में स्वामीजी ने कहा यह ढाई-तीन हजार वर्ष पुराना है। लाटू ने पूछा, 'तुमने यह बात कैसे जानी मुझे समझा दो, यह बात लिखी हुई है क्या?" स्वामीजी ने हँसते हुए कहा, 'तुमको यह बात समझा नहीं सकूँगा। यदि तुम पढ़ना-लिखना सीखते तब शायद तुम्हें समझाने की चेष्टा करता।' लाटू ने तुरन्त कहा, "ओ समझ गया। तुम ऐसे विद्वान हो कि हमारे जैसे महान् मूर्ख को भी समझा नहीं सकते।" सब लोग हंस पड़े। कश्मीर भ्रमण के बाद स्वामी विवेकानन्द खेतड़ी पहुँच कर राज प्रासाद के अतिथि हुए। स्वामी अद्भुतानन्द राजा का अन्न ग्रहण नहीं करते थे, चुपके से बाहर से खाकर चले आते थे। एक बार उन्होने महल के दरबान की रोटी और पकाया हुआ बैंगन ग्रहण किया था। दरबान घबराया हुआ था कि राज अतिथि को भिक्षा देकर उसने क्या अनर्थ कर डाला। स्वामी विवेकानन्द के साथ वे जयपुर भी घूमने आये थे।

१८९९ में वे 'वसुमती' के छापेखाने में चले गये थे और वहाँ वे निम्न स्तर के लोगों से मिलते

थे। किसी ने प्रश्न किया, "जो चरित्रहीन हैं उनके साथ आप क्यों मिलते-जुलते हैं?" तब आपने जवाब दिया, "वे निष्कपट तो हैं न।' स्वामी विवेकानन्द ने इन्हें 'मठ का ट्रस्टी' रूप में लेना चाहा तब उन्होंने कहा, 'मुझे यह सब झंझट अच्छा नहीं लगता, मैं इन सब में नहीं रहूँगा।'" बलराम मन्दिर में एक दिन एक शराबी इन्हें कड़वी बातें कहने लगा तो उसे भक्त लोग सजा देने पर उतारू हो गये। स्वामी अद्भुतानन्द ने रोकते हुए कहा, "देखो! वह तो शराब पीकर मतवाला हो गया है और गाली-गलौज कर रहा है। किन्तु तुम लोग तो बिना शराब पिये ही मतवाले बनकर गाली-गलौज कर रहे हो। किस को दण्ड देना उचित है कहो तो? उसको तुम लोग क्या मारोगे? उसे तो शराब ने ही मार डाला है।" एक दिन बिहारी बाबू ने इनसे पूछा, "क्या हमें परिवार छोड़कर केवल ईश्वर की आराधना ही करनी चाहिए?" लाटू महाराज ने जवाब दिया, "परिवार भी ईश्वर का ही है। उसे परिवार के असली मुखिया की तरह पूजो। संसार के प्रति तो कर्त्तव्य निभाना ही पड़ेगा और फिर जो कुछ है मन ही तो है, यदि मन की प्रवृत्ति भोग की ओर है तो जंगल में भी भटकेगा और यदि नहीं तो इन सब से घिरे रहकर भी निरासक्त रहेगा।"

स्वामी गम्भीरानन्द लिखते हैं "इन्हीं निरक्षर स्वामी अद्भुतानन्द के मुख से अविराम उच्च धार्मिक तत्त्वों को सुनने के लिए बहुत से शिक्षित व्यक्ति भी मंत्रमुग्ध दीर्घकाल तक बैठे रहते थे। उनकी गम्भीर अनुभूति तथा दूसरे के मन में प्रेरणा जगाने की अद्भुत क्षमता को देखकर अवाक् हो जाना पड़ता है।"

●

अध्यात्म के बिखरे मोती

स्वामी यतीश्वरानन्द

अनुवादक—स्वामी ब्रह्मेशानन्द

इस प्रातिभासिक जगत् में आदर्श संस्था जैसी कोई चीज नहीं है, क्योंकि आदर्श व्यक्ति नहीं हैं। हमें वस्तुओं को उनकी वास्तविकता में स्वीकार करना चाहिए। सर्वत्र अच्छी और बुरी दोनों ही बातें पायी जाती है और हमें उस संस्था को चुनना चाहिए जिसमें बुराई के बदले अच्छाई अधिक हो और जो हमारे सुधार में भी सहायक हो।

अपनी सहायता स्वयं करना सबसे अच्छा है, लेकिन इसे अहं-केन्द्रित नहीं होना चाहिए। स्वामी ब्रह्मानन्दजी हमसे कहा करते थे "तुम्हारा मन ही तुम्हारा गुरु है।" इसका अर्थ यह है कि वह इतना पवित्र हो कि हमारे अन्तर्यामी परम गुरु के साथ सम्पर्क स्थापित कर सके। यही मेरा सर्वश्रेष्ठ निर्देश है। यह सोच कर कि तुम किसी काम के लायक नहीं हो, अपने को दुर्बल मत करो। किसी बाह्य सहायता पर अत्यधिक निर्भर होने के बदले अन्तर्यामी गुरु से ज्ञानालोक और मार्गदर्शन के लिए आन्तरिक प्रार्थना करो।

दूसरों को सुखी देखकर सुख अनुभव करना

सीखो। हम सभी में कमजोरियाँ और विशेषताएँ हैं। दोनों को एक साथ रख कर देखने पर तुम पाओगे कि अच्छाईयाँ बुराईयों से अधिक हैं, लेकिन उन बुराईयों को क्रमश: दूर करना है।

जब दुर्बलताओं का अवलोकन करने से तुम्हें निराशा हो, तो पीछे मुड़कर देखो कि पिछले कुछ वर्षों में तुममें कितना महान परिवर्त्तन हुआ है। इससे तुममें आशा का संचार होगा और पुन: पुन: प्रयास के लिए तुम्हें प्रोत्साहन मिलेगी, यह जान कर कि तुम्हारे पीछे दैवी-शक्ति विद्यमान है। आन्तरिक प्रयास और प्रार्थना द्वारा इससे शक्ति प्राप्त करना सीखो। मुझे विश्वास है कि कालांतर में तुम्हारा इतना आध्यात्मिक रूपान्तरण हो जायेगा जितनी तुम कभी कल्पना भी नहीं कर सकते।

हमारा आदर्श इतना महान है कि जितना हम उसकी ओर बढ़ते हैं, उतना ही हमें ज्ञात होता है कि अभी और बहुत कुछ प्राप्त करना है। यह बहुत अच्छा है, क्योंकि इससे हम आगे बढ़ते रहते हैं और यह हमें ध्यान और प्रार्थना बनाये रखकर दिव्य आनन्द का कुछ आस्वादन करने में समर्थ बनाता है।

* * *

हमें सत्य की ओर अग्रसर होना चाहिए। उसकी ओर जाने के बहुत से मार्ग हैं। जीव, विकास के एक क्रम विशेष का अनुसरण करता है, और उसमें उतार-चढ़ाव आते रहते हैं, लेकिन मूल परिणाम प्रगति ही होना चाहिए। हमारी प्रगति सुव्यवस्थित होनी चाहिए। हमारे विचार स्पष्ट और सुव्यवस्थित होने चाहिए। वे प्रारम्भ में अपरिपक्व भले ही हों लेकिन उन्हें अस्पष्ट और अनिश्चित नहीं होना चाहिए। हमारी प्रगति के साथ ही साथ परमात्मा की हमारी धारणा भी अधिकाधिक विकसित होनी चाहिए।

अपनी वास्तविक स्थिति को जानना पहला कदम है। ईश्वर आत्मा और जगत् के साथ अपने सम्बन्ध का पता लगाओ। प्रारम्भ में हम जहाँ हैं, वहीं रह कर हमें जीवन के कर्त्तव्यों का पालन करना चाहिए। हमारे विकास के साथ कर्त्तव्य की हमारी धारणा का भी विकास होता है, लेकिन पवित्रता और भगवद्भक्ति मुख्य हैं। हमारे अपने विषय में, हम क्या हैं, इस विषय में, स्पष्ट धारणा होनी चाहिए और उसके बाद अपने में कसे परिवर्तन लाया जाय, यह सोचना चाहिए। परिवर्तन बिरले ही एक समान होते हैं। हममें उतार चढ़ाव होते हैं, लेकिन हमें प्रगति करते रहना चाहिए। श्रेष्ठतर बनते जाना चाहिये। यदि हम अधोगामी होवें तो हमें पुन: ऊपर उठना चाहिए। हमारे नाना मनोभाव हो सकते हैं। लेकिन हमारा एक मुख्य मनोभाव होना चाहिए—शान्त, आध्यात्मिक मनोभाव। यदि हम क्रोधित होवें तो कम से कम पूरे मन से तो क्रुद्ध नहीं होना चाहिए। मन के एक अंश को तो कम से कम नियंत्रण में रखो। अप्रभावित रहना सीखो। अपने मन का सन्तुलन बनाये रखो। क्या सच्चा धर्म इसकी उपलब्धि करा सकता है?

प्रत्येक व्यक्ति में किसी उच्चतर वस्तु के लिए छटपटाहट है—आत्मा-पिपासा। "आत्मा पिपासा" का तथ्य गहराई में विद्यमान है। कुछ समय के लिए हम उसे भले ही भूल जायें, पर आत्मा की यह चाह पुन: उभर आती है।

* * *

स्वयं के प्रति तीन दृष्टिकोण संभव है :

(१) मैं देह हूँ, (२) मैं मन हूँ, और (३) मैं आत्मा हूँ। मेरे सभी विचारों का साक्षी। "मैं हूँ" यह पहला तथ्य आत्म-चेतना का है। पता लगाओ कि तुम्हारे लिए इसका क्या अर्थ है।

मन, आत्मा का—हमारी वास्तविक आत्मा का यंत्र है। मैं देखता हूँ : लेकिन ठीक तरीके से कैसे देखना, यह जानना आवश्यक है। हम प्रायः गलत तरीके से मानो रंगीन चश्मों से देखते हैं। सुप्त संस्कार मन को अतिरंजित कर देती हैं। मन को कम रंजित होने दो। वस्तुएँ जैसी हैं, उन्हें वैसा ही देखने का प्रयत्न करो।

* * *

भगवान के साथ हमारा सम्बन्ध क्या है? अभी हम उस ईश्वर के विषय में विचार कर रहे हैं जो हमारे भीतर विद्यमान हैं। वह हमें जोड़ने वाला सूत्र है। हम प्रायः यह भूल जाते हैं और अत्यधिक स्वाभिमानी हो जाते हैं। हम मानो सागर के बुदबुदों के समान हैं, जिन्होंने सामान्य सत्ता को विस्मृत कर दिया है। ईश्वर और हमारे बीच का सूत्र खोज निकालना व्यावहारिक धर्म है।

अथवा स्वयं को एक वृत्त पर बिन्दु के रूप में कल्पना करो। ऐसा कोई बिन्दु नहीं है, जहाँ वृत्त न हो। हम एक दूसरे से सीधे नहीं बल्कि इस वृत्त के माध्यम से जुड़े हैं। तात्पर्य यह है कि सबके प्रति समदृष्टि होना चाहिए। व्यक्तिगत जीवन को आध्यात्मिक जीवन में रूपान्तरित करो। लेकिन यह कार्य अपने से प्रारम्भ करो। सर्वप्रथम अन्तर्यामी परमात्मा के साथ एक निश्चित सम्बन्ध स्थापित करो। भगवान के साथ सम्बन्ध मानव-सम्बन्धों की तरह परिवर्तित नहीं होता। मृत्यु विनाश नहीं है। यह केवल स्थान-परिवर्तन है। आत्मा एक ऐसी वस्तु है जो कभी परिवर्तित नहीं होती।

शुभ और अशुभ दोनों हैं और कभी हम उस वास्तविक सत्ता की झलक पा जाते हैं जो न तो शुभ है और न अशुभ। जो आध्यात्मिक जीवन में सहायक हो वह शुभ है, जो हानिकारक हो वह अशुभ है। हममें शुभ और अशुभ दोनों ही तत्व हैं। अशुभ को दूर करो, शुभ को ग्रहण करो और उसके बाद शुभ और अशुभ के परे चले जाओ। हम कम से कम इस आदर्श के निकट जा सकते हैं और पूर्णता की दिशा में प्रयास कर सकते हैं।

आसक्त मत होओ। विचलित मत होओ। दृश्य जगत् के पीछे अवस्थित सत्ता को देखने का प्रयत्न करो। हमें दयालु होना चाहिए लेकिन अंधा नहीं। अनन्त सहानुभूति-सम्पन्न होओ। दुःख और कष्ट एक प्रकार की शिक्षा है, उन्हें सहन करो। दुःख के माध्यम से भी परमात्मा की ओर जुड़ो। सत्य की पिपासा भी हमें परमात्मा की ओर ले जाती है।

हमें अपने आप के साथ तादात्म्य में रहना चाहिए। यदि हम सन्तुलित न हों, तो हम दूसरों को चोट पहुँचायेंगे। शरीर और मन में समरसता लाओ। अपनी भावनाओं का उदात्तीकरण आवश्यक है। यदि उनका दमन किया जाता है, तो वे बार-बार बाहर निकल पड़ती हैं। दमन या विरोध पर्याप्त नहीं है।

मित्रों के स्पन्दन कुछ हद तक समान होते हैं। कुछ व्यक्तियों के प्रति सहानुभूति रखो। उच्चतर स्तर से सहानुभूति रखो। ऐसे अवसर आते हैं जब हमें दूसरों के साथ असहमत होने अथवा दूसरों को डाँटना पड़े, लेकिन यह हमें कुछ आत्म-नियंत्रण बनाये रख कर करना चाहिए। ऐसा करने पर यह झगड़े अथवा गलतफहमी को जन्म नहीं देगा। यदि हममें आन्तरिक सामंजस्य हो तो हम दूसरों में समरसता का संचार करेंगे। यदि हम चंचल होंगे तो हमारे लिए आन्तरिक और बाह्य दोनों प्रकार की समस्याएँ होंगी।

सर्व प्रथम हमारी स्वयं के सम्बन्ध में एक आध्यात्मिक धारणा होनी चाहिए, तभी हम अपने

और परमात्मा के बीच तथा दूसरों के साथ समुचित सम्बन्ध स्थापित कर सकते हैं।

* * *

सर्वप्रथम हमारी एक दृढ़ बौद्धिक मान्यता होनी चाहिए। उसके बाद उस मान्यता को कसौटी पर कसना चाहिए। हमारे कार्यों और विचारों में हमारी आस्था की परीक्षा होती है। हमें उसके अनुरूप जीवन यापन करना चाहिए। धर्म के विषय में बातें बहुत होती हैं। बातें जितनी कम हों उतना अच्छा है। हमें कर्म करना चाहिए। हमें आदर्श के अनुरूप जीवन यापन करना चाहिए। केवल कुछ व्यक्ति ही वास्तविक धार्मिक जीवन जी सकते हैं। सिद्धान्त की बातें बहुत अधिक हैं। आचरण आवश्यक है।

सत्य एक है, लेकिन उसको पाने के मार्ग अनेक हैं। निम्नतर सत्यों से उच्चतर सत्यों को जाना जाता है। हमें सत्य की झलकें प्राप्त करनी चाहिए। इसके लिये हमें कुछ कदम उठाने पड़ते हैं। आदर्शों को आत्मसात् करना तथा उन्हें जीवन में उतारना चाहिए। आदर्श को नीचा मत करो, वहाँ तक स्वयं उठो। हमें क्रमशः एक एक कदम उस ओर बढ़ाना चाहिए। श्रेष्ठ से श्रेष्ठतर बनो। विचारों और धारणाओं को स्पष्ट से स्पष्टतर बनाओ। स्थूल से सूक्ष्म की ओर बढ़ो और वहाँ से कारण तक जाओ।

* * *

परमात्मा का अपने भीतर साक्षात्कार करना पहला कदम है। उसके बाद हम उसका दूसरों में भी अनुभव करते हैं। तब एक नया दृष्टिकोण, एक नयी सहानुभूति उत्पन्न होती है। अपनी मानसिक क्षमताओं के प्रशिक्षण से इच्छाशक्ति सबल होती है। इच्छाशक्ति, क्रियाशक्ति और ज्ञानशक्ति को समन्वित करना चाहिए, प्रार्थना, ध्यान, कर्त्तव्यपालन और संयम द्वारा उनके परे जाना चाहिए।

आध्यात्मिक जीवन के लिए बहुत शक्ति की आवश्यकता है।

मनुष्य कई प्रकार के होते हैं लेकिन सभी का लक्ष्य एक है : आत्मा का परमात्मा के साथ सम्बन्ध को जानना और अन्ततः उसके ऐक्य की अनुभूति करना।

निःस्वार्थ कर्म परमात्मा की प्राप्ति की एक सीढ़ी है। यदि श्रद्धा भी हो तो यह आसान हो जाता है। उदात्त भावनाओं का आध्यात्मिक जीवन में बहुत मूल्य है। वे हमें परमात्मा के निकट ले जाती हैं। कुछ लोगों में भक्ति का आधिक्य होता है। लेकिन भावना के साथ विवेक और समुचित क्रिया भी होनी चाहिए। विभिन्न मानसिक क्षमताओं को समन्वित करो। इन क्षमताओं के ऊपर उठकर सत्य को जानो। परमात्मा हमें प्रेरित करें और हमारा मार्गदर्शन करें।

जीवनमुक्ति, मृत्यु के पूर्व मुक्त होना, हमारा लक्ष्य है। हमें इस जीवन में ही भरपूर प्रयत्न करना चाहिए क्योंकि मानव जन्म दुर्लभ है। मृत्यु के पूर्व भगवत् साक्षात्कार की उच्चाकांक्षा रखो। लक्ष्य की दिशा में संघर्ष करते हुए बढ़ते चलो। जब तक हमें अपने अहंकार का बोध है, तब तक जिम्मेदारी हमारी है। हमें प्रयास करके पूर्णता के निकट पहुँचना चाहिए।

* * *

सत्य का प्रत्यक्ष अनुभव प्रज्ञा कहलाता है। यह क्षमता शुद्ध बुद्धि और हृदय के माध्यम से प्रकट होती है। भक्ति को बुद्धि द्वारा सदा नियंत्रित होना चाहिए, भावनाओं को विचार द्वारा दिशा प्रदान करना चाहिए। भावनाएँ और बुद्धि दोनों में तालमेल होना चाहिए और हमें कभी भी अपने को अपनी भावनाओं अथवा कोरे बुद्धिवाद के द्वारा बहने नहीं देना चाहिए।

इस उच्चतर क्षमता, प्रज्ञा, मे हमें प्रत्यक्ष अनुभव, सत्य को प्रत्यक्षानुभूति होती है। लेकिन पहले प्रज्ञा की क्षमता का विकास करना चाहिए। यह क्षमता हममें पहले से ही विद्यमान है लेकिन वह मन की मलीनता के कारण अवतरित है। सत्य का साक्षात्कार करने के लिए चित्त को शुद्ध करो। हम सत्य की झलकें तो कम से कम पा सकते हैं। अस्पष्ट प्रज्ञा को निश्चित और स्पष्ट प्रज्ञा में विकसित करना चाहिए। प्रत्येक-आत्मा अव्यक्त ब्रह्म है। हमें सदा अपनी आध्यात्मिक विरासत को याद रखना चाहिए।

* * *

कभी अपने को भावनाओं के वेग में प्रवाहित न होने दो। यह बहुत खतरनाक है। स्पष्ट, निश्चित चिन्ता आवश्यक है। अपने मनोभावों को नियंत्रित करो। प्रारम्भ में बाहर से अच्छे संवेदनों को ग्रहण करना आवश्यक हो सकता है। लेकिन अपने भीतर से उदात्त प्रेरणाओं को पाना अधिक महत्वपूर्ण है। अन्तस्थ ज्योति को देखने की तीव्र अभिलाषा रखो। वह तुम्हारे भीतर है। तुम्हें उस अन्तस्थ ज्योति को अभिव्यक्त करना है।

हमारे आन्तरिक और बाह्य जीवन में सन्तुलन होना चाहिए। प्रत्येक कर्म एक सेवा और पूजा होनी चाहिए। चिन्तन के दो प्रकार होते हैं: एक चेतना और दूसरा अवचेतन। कर्म करते समय चेतन प्रवाह को कर्म की ओर तथा अवचेतन को भगवान् की ओर प्रवाहित करो। जब तुम खाली रहो तब दोनों को भगवान की ओर मोड़ दो।

* * *

हमें अपनी देह-मन को शक्ति को नियंत्रित और संचित करना चाहिए। अभी शक्ति का अपव्यय हो रहा है। शक्ति को व्यर्थ बर्बाद न करो। शारीरिक और मानसिक शक्ति को बढ़ाया जा सकता है।

नये मार्गों को खोला जा सकता है, जिन शक्ति के प्रवाह में वृद्धि हो सके। अनुपयोगी कर्म, व्यर्थ बातचीत, गप्पें और निरर्थक चिन्तन झाड़-झंखाड़ के समान हैं। उन्हें उखाड़ फेंको तब उपयोगी कार्य के लिए समय मिलेगा।

साधना के समय कोई शारीरिक चंचलता कोई भी मानसिक चांचल्य नहीं होनी चाहिए। अभ्यास के द्वारा ध्यान गहरा होता है। ध्यान के द्वारा शक्ति के मार्ग बाधारहित हो जाते हैं।

हमें ईश्वरीय-शक्ति के संस्पर्श में आना चाहिए। हमारा प्रस्तुत कार्य इस शक्ति के प्रवाह की श्रेष्ठतर और अल्प बाधा वाली नहरें बनना हैं, जिससे हम अधिक ईश्वरीय-शक्ति पा सकें। एक निम्न मानसिक शक्ति होती है और एक दूसरी उच्च मानसिक ऊर्जा अथवा आध्यात्मिक शक्ति होती है। हमारा सामान्य चिन्तन निम्न मानसिक शक्ति द्वारा होता है। अभ्यास के अभाव में हमारी उच्चतर क्षमताएँ दुर्बल हो गयी है, अतः हम आध्यात्मिक शक्ति ग्रहण नहीं कर पाते हैं।

* * *

प्रातःकाल पूजा, ध्यान, और साधना का सर्वश्रेष्ठ समय है। मन को निषेध विधि से नियंत्रित मत करो; उसे सकारात्मक रूप में, शुभ विचारों द्वारा संयत करो। सदा एक केन्द्रीय विचार का होना आवश्यक है।

निकटतम लक्ष्य क्या है? सत्य के संस्पर्श में आना जिसे हम सत्व कहते / मानते हैं, वह हमारी सारी सत्ता को अपनी ओर खींचता है। अतः यह अत्यधिक आवश्यक है कि सत्य के सम्बन्ध में हमारी धारणा स्पष्ट हो। लक्ष्य और पथ सच

इस उच्चतर क्षमता, प्रज्ञा, मे हमें प्रत्यक्ष अनुभव, सत्य को प्रत्यक्षानुभूति होती है। लेकिन पहले प्रज्ञा की क्षमता का विकास करना चाहिए। यह क्षमता हममें पहले से हो विद्यमान है लेकिन वह मन की मलीनता के कारण अवतरित है। सत्य का साक्षात्कार करने के लिए चित्त को शुद्ध करो। हम सत्य की झलकें तो कम से कम पा सकते हैं। अस्पष्ट प्रज्ञा को निश्चित और स्पष्ट प्रज्ञा में विकसित करना चाहिए। प्रत्येक-आत्मा अव्यक्त ब्रह्म है। हमें सदा अपनी आध्यात्मिक विरासत को याद रखना चाहिए।

* * *

कभी अपने को भावनाओं के वेग में प्रवाहित न होने दो। यह बहुत खतरनाक है। स्पष्ट, निश्चित चिन्ता आवश्यक है। अपने मनोभावों को नियंत्रित करो। प्रारम्भ में बाहर से अच्छे संवेदनों को ग्रहण करना आवश्यक हो सकता है। लेकिन अपने भीतर से उदात्त प्रेरणाओं को पाना अधिक महत्वपूर्ण है। अन्तस्थ ज्योति को देखने की तीव्र अभिलाषा रखो। वह तुम्हारे भीतर है। तुम्हें उस अन्तस्थ ज्योति को अभिव्यक्त करना है।

हमारे आन्तरिक और बाह्य जीवन में सन्तुलन होना चाहिए। प्रत्येक कर्म एक सेवा और पूजा होनी चाहिए। चिन्तन के दो प्रकार होते हैं: एक चेतना और दूसरा अवचेतन। कर्म करते समय चेतन प्रवाह को कर्म की ओर तथा अवचेतन को भगवान् की ओर प्रवाहित करो। जब तुम खाली रहो तब दोनों को भगवान की ओर मोड़ दो।

* * *

हमें अपनी देह-मन को शक्ति को नियंत्रित और संचित करना चाहिए। अभी शक्ति का अपव्यय हो रहा है। शक्ति को व्यर्थ बर्बाद न करो। शारीरिक और मानसिक शक्ति जा सकता है।

नये मार्गों को खोला जा सकता है, जिनसे शक्ति के प्रवाह में वृद्धि हो सके। अनुपयोगी कर्म, व्यर्थ बातचीत, गप्पें और निरर्थक चिन्तन झाड़-झंखाड के समान हैं। उन्हें उखाड़ फेंके तब उपयोगी कार्य के लिए समय मिलेगा।

साधना के समय कोई शारीरिक चंचलता कोई भी मानसिक चांचल्य नहीं होनी चाहिए। अभ्यास के द्वारा ध्यान गहरा होता है। ध्यान के द्वारा शक्ति के मार्ग बाधारहित हो जाते हैं।

हमें ईश्वरीय-शक्ति के संस्पर्श में आना चाहिए। हमारा प्रस्तुत कार्य इस शक्ति के प्रवाह की श्रेष्ठतर और अल्प बाधा वाली नहरें बनना हैं, जिससे हम अधिक ईश्वरीय-शक्ति पा सकें। एक निम्न मानसिक शक्ति होती है और एक दूसरी उच्च मानसिक ऊर्जा अथवा आध्यात्मिक शक्ति होती है। हमारा सामान्य चिन्तन निम्न मानसिक शक्ति द्वारा होता है। अभ्यास के अभाव में हमारी उच्चतर क्षमताएँ दुर्बल हो गयो है, अत: हम आध्यात्मिक शक्ति ग्रहण नहीं कर पाते हैं।

* * *

प्रात:काल पूजा, ध्यान, और साधना का सर्वश्रेष्ठ समय है। मन को निषेध विधि से नियंत्रित मत करो; उसे सकारात्मक रूप में, शुभ विचारों द्वारा संयत करो। सदा एक केन्द्रीय विचार का होना आवश्यक है।

निकटतम लक्ष्य क्या है? सत्य के संस्पर्श में आना जिसे हम सत्व कहते / मानते हैं, वह हमारी सारी सत्ता को अपनी ओर खींचता है। अत: यह अत्यधिक आवश्यक है कि सत्य के सम्बन्ध में हमारी धारणा स्पष्ट हो। लक्ष्य और पथ सच

होनी चाहिए। हमारी कल्पनाएँ भी सत्य विषयक होनी चाहिए।

अवचेतन चिन्तन को नियंत्रित और कम करो। हमें चिन्तन के नियम जानना चाहिए और सचेतन चिन्तन और क्रियाएँ करनी चाहिए।

विचार आवश्यक है। उसकी सहायता से हमें उस सत्य तक पहुँचना चाहिए जो उसके परे है।

ध्यान अभ्यास से सधता है। ध्यान के बाद उसके मनोभाव को कुछ मात्रा में बनाये रखना चाहिए। हृदय के देवालय में एक नन्हा प्रदीप सर्वदा प्रज्वलित रखना चाहिए।

* * *

सर्वप्रथम बुद्ध, ईसा आदि में परमात्मा को देखो। उसके बाद उन्हें सपनों में देखो। जो पवित्र नहीं हैं, उनमें विद्यमान परमात्मा को भी प्रणाम करो, लेकिन दूर से। हम बहुत दुर्बल हैं और उनसे मिलने-जुलने से हम पर बुरा असर पड़ सकता है। अतः हमें सावधान रहना चाहिए। हमें अनुपात की समझ होनी चाहिए और अपनी शक्ति की जानकारी होनी चाहिए।

सदा समुचित सावधानी बरतो जिससे तुम अशुभ से प्रभावित न होवो। हमें कुछ समय के लिए उनसे दूर रहना पड़ सकता है। क्या यह दुर्बलता है? अशुभतर ग्रन्थियों से बचने के लिए हमें कुछ ग्रन्थियों का निर्माण करना पड़ता है।

मन एक वायुदाब-मापक यंत्र (बैरोमीटर) के समान है। यदि तुम्हें लगे कि तुम नीचे की ओर खिंचे जा रहे हो, तो सतर्क हो जाओ। हमें जीवन में बहुधा समझौते करने पड़ते हैं; लेकिन इसके अतिरिक्त कोई उपाय नहीं है। यदि हमारा स्वयं पर पूर्ण नियंत्रण हो तो हम मनोग्रन्थियों से बच सकते हैं। प्रायः हमें उच्चतर बुराई पर विजय पाने के लिए निम्नतर बुराई का पूरा उपयोग करना चाहिए। प्रत्येक स्थिति का वस्तुस्थिति के अनुरूप मूल्यांकन करना चाहिए।

साधना मानसिक स्केटिंग (बर्फ पर फिसलने का खेल) के समान है। अहंकारी गिर जाते हैं। यह न सोचो कि तुम महान् अथवा बहुत सुरक्षित हो।

बाह्य व्यवहार में अपनी आन्तरिक सजगता बनाए रखो। लोगों से मिलने-जुलने का एक तरीका होता है: अपवित्र और दुष्ट-प्रकृति के लोगों से सम्पर्क होने पर सदा ढाल की तरह एक आन्तरिक अवरोध खड़ा करो।

परमात्मा से सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न करो और परमात्मा के माध्यम से सभी से संबंध स्थापित करो। बिन्दु वृत्त के साथ एकत्व स्थापित करें, और उसके बाद ही दूसरे बिन्दुओं से करे। परमात्मा सभी प्राणियों में उसी प्रकार व्याप्त है जिस प्रकार वृत्त प्रत्येक बिन्दु पर विद्यमान है। पूर्ण के माध्यम से सभी अंशों से सम्पर्क करो।

* * *

अधिकांश लोग परमात्मा के प्रति अपने कर्त्तव्य की उपेक्षा करते हैं। अधिकांश लोग अच्छे उपयोगी पौधों के बदले घासपात उगाते हैं। यदि हम आध्यात्मिक होना चाहते हैं तो हमें अपने रहन-सहन को पूरी तरह बदलना होगा। पवित्र और उदात्त विचारों को आश्रय दो और सदा परमात्मा के संस्पर्श में बने रहने का प्रयत्न करो।

हमें आध्यात्मिक मनोभाव को अपने लिए स्वाभाविक बनाने का प्रयास करना चाहिए। मन का कम से कम एक भाग सदा उस उच्चतर भाव में बना रहना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति का एक केन्द्रीय विचार होना चाहिए। यह परमात्मा के साथ तुम्हारे सम्बन्ध का, अथवा जीव को

ईश्वर के प्रति चाह का अथवा तुम साक्षी आत्मा हो, इस तरह का हो सकता है। अथवा सर्वदा किसी भगवन्नाम का जप करो। शब्द तदनुरूप भगवच्चिन्तन को जगाता रहता है।

* * *

हमें अपने और परमात्मा के बीच सम्बन्ध स्थापित करना है। इसके लिए आत्म-निरीक्षण आवश्यक है। साधना से अन्तर्दृष्टि का विकास होता है। हमें अपने चेतना के केन्द्र का पता लगाना चाहिए। चेतना का प्रत्येक उच्चतर केन्द्र (चक्र) हमें परमात्मा के एक रूप के संस्पर्श में लाता है और यह अन्ततोगत्वा जीवात्मा और परमात्मा के मिलन में पर्यवस्थित हो जाता है। ईश्वर-साक्षात्कार करने वाला मानव परमात्मा की श्रेष्ठतम अभिव्यक्ति का रूप है।

धर्म का व्यावहारिक पक्ष हमारी रुचि का मुख्य विषय होना चाहिए। केवल सैद्धान्तिक होने पर तथा मनुष्य की आध्यात्मिक समस्याओं को न सुलझा पाने पर धर्म प्राणहीन हो जाता है। उसे हमें अध्यात्म-विज्ञान की, आध्यात्मिक जगत के नियमों की शिक्षा देनी चाहिए। सूक्ष्म-ब्रह्माण्ड का स्वरूप जान लो। तब तुम बृहत-ब्रह्माण्ड के स्वरूप को भी जान सकोगे। हम अपने अन्दर ही परमात्मा की उपलब्धि करते हैं।

अनेक में एक का पता लगाना, बुद्बुदों में सागर को पहचानना मुख्य बात है। बुद्बुदे को अपने बुद्बुदे स्वरूप का स्पष्ट ज्ञान होना चाहिए। तभी उसे फोड़ा जा सकता है और सागर में विलीन किया जा सकता है।

कुछ बुद्बुदे सीधे सागर के साथ एकत्व प्राप्त करना चाहते हैं, और पर्वत-सम लहरों की भी परवाह नहीं करते। इसी तरह कुछ जीव अनन्त में विलीन होना चहते हैं, और बुद्ध और ईसा जैसे महान् आचार्यों की भी उपासना नहीं करते। लेकिन अधिकांश लोगों को निर्गुन निराकार परमात्मा तक पहुँचने के लिए इन असाधारण महापुरुषों की आवश्यकता होती है।

□

जनता को आत्मनिर्भर बनने की शिक्षा न दी जाये तो भारत के एक छोटे से गांव के लिए सारे संसार की दौलत लगा देने से भी वह पर्याप्त नहीं होगी। शिक्षा प्रदान करना ही हमारा प्रधान कार्य होना चाहिए। चरित्र और बौद्धिक विकास के लिए शिक्षा का विस्तार चाहिए।

— स्वामी विवेकानन्द

जागो हे भारतवर्ष !

—डॉ० केदारनाथ लाभ

जागो हे भारतवर्ष ! उठो, फिर जागो
तोड़ो तन्द्रा जड़ता मूर्च्छा की कारा;
हो अचिर स्वधर्म-शिखर पर पुन: प्रतिष्ठित
अगजग में करो प्रवाहित प्रज्ञा-धारा।

अब और न सोओ अग्नि-मंत्र-उद्गाता
तुम निबिड़ तिमिर में अपने दीप जलाओ;
बनकर रहना इतिहास न नियति तुम्हारी
अपनी ऊर्जा से तुम इतिहास बनाओ।

तुम नवयुग के चेतना-सूर्य की आभा
आगत युग की तुम ही हो अमृत-आशा;
भाषा हो कोटि कोटि नि:स्वर कंठों की
अक्षर संस्कृति की पार्वती-परिभाषा।

अब महामोह का केंचुल अतुल उतारो
अपने विवेक का आदर कर अँगड़ाओ;
तुम कुरुक्षेत्र में पाँचजन्य फिर फूँको
वृन्दावन में वंशी की धुन पर गाओ।

शुभ अपरा परा तुम्हारी परम्परा है
अनुपम अतीत के तुम ही हो अधिकारी;
नव सृष्टि-सृजन के हो भास्वर गंगाधर
तुम शील सभ्यता के रक्षक गिरिधारी।

तुम खिले, विश्व फूलों से लद जाएगा
तुम झड़े, धरा मरुथल-सी हो जाएगी;
तुम जगे, जगत में गति का ज्वार उठेगा
तुम सोये तो वसुधा ही सो जाएगी।

हे मेरे भारतवर्ष ! उठो, फिर जागो
करुणा की कालिन्दी पर नाचो गाओ;
ममता समता के बीज प्रेम के बोओ
धरती पर मानवता की फसल उगाओ।

अभयदान

—मोहन सिंह मनराल
सुरईखेत, अल्मोड़ा (उ० प्र०)

भय समस्त अनर्थों की जड़ : भगवान् श्रीरामकृष्णदेव का कथन है कि लज्जा, घृणा व भय के रहते ईश्वर नहीं मिलते। जीवों का जीवन सर्वत्र भयाक्रान्त है। पग-पग पर वह भय की ठोकरों से प्रेरित वह स्वयं को छिपाता रहता है। मगर हाय! भय कहीं भी उसका पीछा नहीं छोड़ता है। छाया की भाँति वह उसके साथ लगा रहता है। जन्म के साथ मृत्यु के रूप में, यौवन के साथ बुढ़ापे के रूप में, भोग के साथ रोग के रूप में, और बल के साथ शत्रु के रूप में सर पर नंगी तलवार की भाँति टंगा रहता है। तभी तो 'भर्तृहरि' कहते हैं—

"भोगे रोगभयं कुले च्युतिभयं वित्ते नृपालादभयं।
माने दैन्यभयं बले रिपुभयं रूपे जराभयम।
शास्त्रे वादिभयं गुणे खलभयं कायेकृतान्तादभयं,
सर्वं वस्तु भयान्वितं भुवि नृणां वैराग्यमेवाभयम ।।"[1]

भोग में रोग का भय है, सामाजिक प्रतिष्ठा में गिरने का भय है, धन में राजकोष का भय है, सम्मान में अनादर का भय है, बल में शत्रु का भय है, सौन्दर्य में बुढ़ापे का भय है, शास्त्र ज्ञान में वादी का भय है, गुण में खल का, शरीर में मृत्यु का भय है। मनुष्य से संबंधित संसार की सभी वस्तुयें भय से युक्त हैं, एकमात्र वैराग्य ही भय से रहित है।

यदि हम आधुनिक मनीषी तत्ववेत्ता स्वामी विवेकानन्द के शब्दों पर विचार करें तो हम पाते हैं कि वे भय को समस्त अनर्थों की जड़ मानते हैं। आइये उनके शब्दों में ही देखें - "भय ही मृत्यु है, भय ही पाप है, भय ही नरक है, भय ही अधर्म तथा भय ही व्यभिचार। जगत में जो कुछ असत् या मिथ्याभाव है वह सब इस भयरूप शैतान से उत्पन्न हुआ है।"[2]

भय से मुक्ति कैसे ? :- प्रश्न यह है कि भय से मुक्ति कैसे हो? भर्तृहरि ने तो वैराग्य को इससे मुक्ति का उपाय बताया है और स्वामी विवेकानन्द ने 'अभिः अभिः' कहकर इसे उपनिषदों के ज्ञान का सार बतलाया है। इसी अभिः के बलपर नचिकेता ने यम का सामना किया और ब्रह्मज्ञान प्राप्त किया। मगर लौकिक रूप से चाहे कोई कितने ही प्रयास कर ले, भय से मुक्ति संभव नहीं है क्योंकि जब तक देहाभिमान रहेगा भय विद्यमान रहेगा। जहाँ जड़ समूह के प्रति आसक्ति का अभाव हो जाय। दूसरे शब्दों में चैतन्य बोध हो जाय। वहीं भयमुक्ति संभव है ऐसा कहा जाता है। मगर यह अवस्था ईश्वर की कृपा के बिना संभव नहीं है और ईश्वर कृपा के राज्य में पुरुषार्थ की परम आवश्यकता मानी गयी है।

वर्तमान युग में श्रीरामकृष्ण लीला में एक ऐसी घटना घटित हुई है जिसने मानव को भय से मुक्ति का एक 'नया द्वार' प्रदान किया है। यह घटना प्रथम जनवरी सन् १८८६ ई० की थी जब श्रीरामकृष्ण अपनी अन्तिम बीमारी के समय कलकत्ते के पास काशीपुर के उद्यान भवन में निवास कर रहे थे। अब हम उस घटना का स्मरण करेंगे।

"श्रीरामकृष्ण का अभयदान" :—अंग्रेजी कैलेण्डर का नया वर्ष प्रारम्भ हो रहा था इसलिए यह छुट्टी का दिन था। श्रीरामकृष्ण के तीस से अधिक गृही भक्त उनका हाल पूछने काशीपुर के उद्यान भवन के प्रांगन में एकत्रित थे। तभी दोपहर के उपरान्त श्रीरामकृष्ण ने टहलने की इच्छा से उनके समीप आकर उनमें से एक श्री गिरीशचन्द्र घोष से कहा, 'गिरीश, तुम सबसे इतनी बातें (मेरे अवतार होने के बारे में) कहते फिरते हो, तुमने (मेरे सम्बन्ध में) क्या देखा और क्या समझा है? गिरीश इस प्रश्न से अविचलित रहते हुए, भक्ति व विश्वास के साथ गद्‌गद् कण्ठ से बोले, "व्यास-बाल्मीकि जिनकी महिमा नहीं गा सके, मेरे जैसा क्षुद्र व्यक्ति उनके सम्बन्ध में क्या कह सकता है।"

गिरीश की भक्ति व सरल विश्वास से मुग्ध श्रीरामकृष्ण देव ने भक्तों को अपना दिव्य आशीर्वाद प्रदान करते हुए अभयदान देते हुए कहा—"तुम लोगों से और क्या कहूं, आशीर्वाद देता हूं, तुम्हें चैतन्य हो।"[3] यह आशीर्वाद तत्क्षण हो कार्यरूप में परिणित हो उठा जब भावाविष्ट ठाकुर ने अपने दिव्य स्पर्श और इच्छा-मात्र से वहाँ उपस्थित अधिकांश गृहीभक्तों में चैतन्य की बाढ़ ला दी। वे देश काल भूल गये और तन्मय होकर असामान्य आचरण करने लगे। उस शोरगुल को, ईश्वर कृपा व चेष्टा' द्वारा चैतन्यबोध के जीवन्त प्रतीक दृश्य की संज्ञा दी जा सकती है। इस घटना के माध्यम से मानव मात्र को भय से मुक्ति का एक नया द्वार उन्मुक्त हुआ मिलता है जिसमें प्रवेश कर वह अंतत: भय मुक्ति के साथ चैतन्यबोध का अधिकारी बन सकता है। मगर आवश्यकता है भक्ति-विश्वास की, मुमुक्ष होकर परम पुरुषार्थ सम्पन्नता की और प्रभु के चरणों में शरणागत होने की क्योंकि जिस लोगों को यह परम-सौभाग्य प्राप्त हुआ था वे इन्हीं गुणों को धारण करने में सफल हुए थे।

'भयमुक्ति का द्वार-समर्पण :—ध्यान देने की बात है कि श्रीरामकृष्ण का अभयदान उनलोगों को प्राप्त हुआ था जो संसार के शोक ताप से दग्ध उनके शरणापन्न हुए थे। बिना भेदभाव के अपने गृही भक्तों को अभयदान प्रदान करना श्रीठाकुर के देवमानत्व का परिचायक होने के साथ-साथ एक ऐसी प्रतिज्ञा का भी द्योतक है जिसमें वे अपने शरणापन्न को चैतन्य का आशीर्वाद देते हुए सभी पापों से मुक्ति कर अभयदान देते हैं। जैसा कि स्वामी सारदानन्द जी लिखते हैं—"उन्होंने इस घटना से जनसाधारण को बिना भेदभाव के अभंयाश्रय प्रदान कर अपने देवमानत्व का ही परिचय सुव्यक्त किया है।"[4]

अत: भयमुक्ति का द्वार हुआ प्रभु के चरणों में समर्पण। अपनी निजता अहंता और दुर्बलताओं का समर्पण। अपनी असहाय अवस्था की हृदय से स्वीकारोक्ति। और इसके उपरान्त उनके महा-वाक्य पर अटल विश्वास जिसमें वे कहते हैं—"अपने मन की इस दुर्बलता को निष्कपट हृदय से ईश्वर को जताओ। जितना हो सके जताओ। वे बिन्दु को सिन्धु को तरह देखते हैं। तुम्हारी इस प्रार्थना को वे अवश्य पूर्ण करेंगे। तुम दुर्बल हो

देव लोक

—ब्रह्मलीन स्वामी अपूर्वानन्द
अनुवादक—स्वामी ज्ञानातीतानन्द
रामकृष्ण आश्रम, राजकोट ।

ठाकुर के साधारण उत्सव के दिन विशेष अनुष्ठान :—तब ठाकुर के साधारण उत्सव के दिन जातिवर्ण निर्विशेष, लगभग तीस हजार लोगों को पंक्ति में बैठा कर खिलाया जाता था। उत्सव का भंडार एवं बड़ा भोजनालय पुराने गोशाला के पास में था। तीन-चार दिन पहले से भोजन बनाना प्रारम्भ होता था। तीस मन लूची, तीस मन बूंदी, तीस मन दही जमाया जाता। एक सौ मन से अधिक तरकारी और चटनी बनायी जाती थी। प्रचूर परिमाण में खिचड़ी बना कर बड़े-बड़े चौबच्चे में रखा जाता। बारह बजने पर सौ-सौ स्वयंसेवक खिचड़ी परोसना शुरू कर देते थे। सारा मठ कीर्तन, भजन, पाठ प्रवचन, कथक आदि से गूंजता रहता। मानो धर्म मेला हो।

नरनारायण के साथ देशबन्धु चितरञ्जनदास का पङ्क्ति भोजन :—सुना है, कई वर्ष पहले जन-सेवक, प्रसिद्ध नेता चितरंजनदास महाशय नर-नारायण के साथ एक पंक्ति में बैठकर जनता नरनारायण के साथ भोजन करने के लिए बेलुड़ मठ आये थे। पूजनीय स्वामी प्रेमानन्द महाराज इस सम्मानित अतिथि को अलग बैठा कर ठाकुर का भोग खिलाने की व्यवस्था की थी। उस पर उन्होंने अत्यन्त विनम्र भाव से आपत्ति करते हुए कहा था : 'जीवन में अन्ततः एक दिन जाति अभिमान त्याग कर भाइयों के साथ मिल कर महाप्रसाद खाने के सुयोग से मुझे वंचित मत कीजिएगा। उन्होंने यथा समय सभी के साथ लाइन में बैठकर साधारण लोगों की तरह खिचड़ी प्रसाद खाया था और कहा था : 'मेरा देह-मन पवित्र हो गया, खूब तृप्ति मिली। जीवन में यह दिन चिरस्मरणीय रहेगा।'

सप्तम परिच्छेद

बेलुड़ मठ में महाराज— ध्यान-जप के विषय में निर्देश :

लगभग दो महीने के बाद राजा महाराज काशी से बेलुड़ मठ आ गये। काशी में स्वामीजी की इस तिथिपूजा में उन्होंने बहुतों को सन्यास ब्रह्मचर्य दिया था। अन्त में ठाकुर की तिथिपूजा के दिन भी वो लोगों को संन्यास एवं पाँच लोगों को ब्रह्मचर्य दिया था। किसी भी प्रार्थी को विमुख नहीं किया। इधर बेलुड़ मठ आते ही साथ-ही-साथ दूसरे दिन वे सभी को लेकर अपने घर में प्रातःकाल ध्यान करना आरम्भ किया। और अनुरागी भक्त भी महाराज के निर्देशानुसार जप-ध्यान करेंगे, सोच कर मठ आने लगे। बारुईपुर के वकील केदारबाबू आये हैं। वे रातभर जप और पुरश्चरण करते हैं। और भी कई भक्तों को महाराज ने जप, पुरश्चरण का उपदेश दिया और किसको कैसी दर्शन एवं अनुभूति हुई पूछते थे।

महाराज का क्रोध —

महाराज रोज प्रातः-सायं नीचे उतरते थे और कामकाज का निर्देश देते थे। बरामदे के कोने में Mangolia Grandi Flora पेड़ में कुछ कलियां दिखायी पड़ीं, एक खिलने वाली हुई है। महाराज रोज देखते एवं फूल खिलने की प्रतीक्षा करते। उनके मठ में आने के कुछ दिन बाद ही एक छोटी

डाल में एक फूल खिला देख कर ठाकुर-भंडारी फूल सहित पतली डाल काट कर एक फूलदानी में जल भर कर उसमें फूल लगा कर ठाकुर-मन्दिर में दिया। सभी को खूब आनन्द हुआ। महाराज नौ बजे नीचे उतर कर आये, पहले Mangolia पौधे के पास आये और डाल समेत फूल कटा हुआ देख कर बहुत दुःखी हुए। जिसने फूल काटा है उस भंडारी को बुला कर तिरस्कार सहित बोले: 'तुमने क्या किया ? इतने छोटे पौधे को कहीं काटा जाता है ? तुम बिल्कुल भाग्यहीन हो, तुम मठ में रहने योग्य नहीं हो। अभी निकल जाओ। भिक्षा करके खाओ।' महाराज के आदेश के ऊपर और कोई बात नहीं। सारा मठ काँप गया। सभी साधु डर गये। खोका महाराज नीचे आये। महाराज उस दिन और घूमने नहीं गये। गम्भीर भाव से उपर चले गये।

ब्रह्मचारी एक कपड़ा पहने हुए मठ के बाहर चले गये। उस समय मठ के दक्षिण की ओर लोहे का फाटक ही एकमात्र दरवाजा था। उस समय तक 'सारदापीठ' नहीं हुआ था, सारदापीठ के दक्षिण की ओर ग्रान्डट्रंक रोड की ओर जो बड़ा रास्ता हुआ है, वह सब नहीं था। यह सब स्थान जंगल से भरा हुआ था। ब्रह्मचारी सारा दिन दक्षिण की ओर के फाटक के बाहर पड़े रहे, मुहल्ले से भिक्षा भी नहीं मिली। दोपहर को सबका भोजन हो जाने पर पूजनीय खोका महाराज भंडारी के पास से कुछ दाल-भात लेकर उस ब्रह्मचारी को खाने को दिया एवं चार बजे के बाद ब्रह्मचारी को महाराज के पास क्षमा भिक्षा के लिए लाकर बोले: 'महाराज, उसको क्षमा करिए, ऐसा कार्य वह और नहीं करेगा।' महाराज ने साथ ही साथ क्षमा किया। महाराज ने क्या क्रोध किया था ? मालूम होता है नहीं। इन्होंने इस ब्रह्मचारी को शिक्षा देने के लिए यह कठोर आदेश दिया था। महापुरुष महाराज भी किसी-किसी समय क्रोध प्रकट करते थे और साथ-ही-साथ यह भी कहते: 'क्रोधोऽपि देवस्य वरेण्य तुल्य।' देवताओं का क्रोध भी वरदान तुल्य होता है।'

वे लोग लोगों के कल्याण के लिए कभी-कभी क्रोध का आभास मात्र करते थे। साधु भी वैसा ही करते हैं। लोकशिक्षा के लिए क्रोध का नाटक करते हैं।

महाराज की हृदयवत्ता—महाराज का लगाया सभी आम का पेड़ बड़ा हो गया है, आम फलना आरम्भ हो गया है। मठ के बरामदे के पास आम के पेड़ में बहुत से आम पके हैं। मैं तब ठाकुर-भंडार में काम करता था। मैं पेड़ पर चढ़ना जानता था। महाराज के मठ में आने के कुछ दिन बाद ही एक दिन सायंकाल देवेन महाराज मुझको लेकर इस आम के पेड़ से आम तोड़ने ले गये। मैं एक छोटी डाली लेकर इस पेड़ पर चढ़ कर हाथ से पच्चीस-तीस पका आम तोड़ा। अन्त में एक पतली डाल में कई आम देख कर जैसे ही हाथ बढ़ा कर तोड़ने गया, साथ-ही-साथ डाल चरमर करके टूट गयी एवं मैं डाल समेत नीचे गिर पड़ा। खूब चोट लगी। देवेन महाराज के गया-गया' करके चिल्लाने से चार-पाँच साधु आकर उठाने लगे। मेरे बायें हाथ के जोड़ में खूब चोट लगी थी। मुझको उठाकर ठाकुर-भंडार के चबूतरे पर सुला दिया। यतीन महाराज डाक्टर थे। उन्होंने मुझको मठ के अन्तिम भाग में फाटक के पास दवाखाना में ले आने के लिए कहा। उस समय आरती आरम्भ हो गयी थी। मैं दवाखाने में बैठा रहा। आरती पूरी होने पर डाक्टर महाराज ने 'गुलाउश लोशन' तैयार कर बायें हाथ की जोड़ पर अच्छी तरह पट्टी बाँध दिया। कुछ देर बाद देखता हूँ कि महाराज और महापुरुष महाराज दोनों ही मुझको देखने आ रहे हैं। उनके डिस्पेंसरी के सामने आते ही मैं दोनों को प्रणाम कर खड़ा हो गया। महाराज ने पूछा: 'तुम्हारे हाथ में क्या हुआ ? मेरे उत्तर देने के पहले ही महापुरुषजी बोले:

'आज शाम को आम तोडते हुए डाल टूट जाने से गिर जाने पर हाथ में चोट लग गयी है।' यह सुन महाराज बोले : 'आज बृहस्पतिवार बारबेला (अशुभ समय) तुम आम तोड़ने पेड़ पर क्यों चढ़े ? जाओ, ठाकुर की कृपा से थोड़े से ही तुम्हारी विपत्ति कट गयी। और फिर ऐसा मत करना। ठाकुर बृहस्पतिवार 'बारबेला' बहुत मानते थे। तारक दा, बच्चों को मना कर देना, बृहस्पतिवार बारबेला में कोई भी शुभ काम करने कोई न जाय।' मैं सिर नीचे करके चला आया।

बेलुड़ ग्राम के भक्त योगेन गाङ्गुली कुछ छोटे-छोटे शिशुओं को छोड़कर असमय में सामान्य बीमारी से मर गये। मठ के खूब पास में उनका घर था। सारे परिवार को खूब दरिद्र अवस्था थी। महाराज एक दिन प्रातःकाल मठ के मैदान में कामकाज देखते हुए घूम रहे थे। योगेन बाबू की आठ-नौ वर्ष की कन्या गङ्गा रोते-रोते उनका हाथ पकड़ कर बोली : 'महाराज, हमलोग क्या खाएँगे ?' गङ्गा का दुःख देखकर महाराज खूब दुःखित होकर उनलोगों को मठ की ओर ले आये, उस समय महापुरुष महाराज भी मठ के बरामदे में थे। महाराज महापुरुष महाराज के पास आकर बोले : 'तारक दा, योगेन बाबू के घर के बच्चों को खाना नहीं मिल रहा है। कुछ दिनों के लिए उनलोगों की कुछ व्यवस्था कर दीजिए। मैं देखता हूँ कि क्या कर सकता हूँ।' महाराज के आदेशानुसार महापुरुषजी के योगेन बाबू के घर सभी लोगों की खाने की व्यवस्था कर दी। महाराज की चेष्टा से कुछ ही दिनों में योगेन बाबू के दस-ग्यारह वर्ष के लड़के सन्तोष को काली स्कूल में तथा गंगा एवं उसकी बहिन को निवेदिता स्कूल में पढ़ने की व्यवस्था हो गयी। खोका महाराज रोज जाकर देख आते कि घर में चावल-दाल है कि नहीं तथा साथ-ही-साथ चार या आठ आना दे आते। ऐसा था महाराज का उदार हृदय।

उस समय तक बेलुड़ मठ में अलग गेस्ट हाउस नहीं था। स्थानीय भक्तों के बेलूड़ मठ में रहने को आने पर विशेषतः मठ के अभ्यागत कक्ष में रखा जाता था। उत्सव आदि के समय कभी-कभी सात-आठ भक्त भी अभ्यागत कक्ष में रहते। स्त्री भक्तों को रात्रि के समय बेलुड़ मठ में रहने की कोई भी व्यवस्था नहीं थी। विदेशी भक्तों में मिस मैक्लाउड मठ में आने पर वे गिरीश मेमोरियल में एक घर में रहती थीं। ऐसा मालूम पड़ता है। १९२३ ई० में मिस मैक्लाउड ने मठ में वास करने के लिए अपने खर्चे से गिरीश मेमोरियल को दोतल्ला घर बनवाया एवं कुछ वर्षों तक वहाँ निवास किया।

ये महापुरुष महाराज के मन्त्रशिष्य थे। अमेरिका में स्थायी भाव से रहने वाले धनगोपाल बाबू यूरोप और अमेरिका में साहित्यिक की तरह प्रख्यात थे। विदेश में भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता पर बहुत से लेक्चर दिये थे। श्रीरामकृष्ण के सम्बन्ध में इनकी विख्यात पुस्तक The Face of Silence. पढ़ कर ही रोमाँ रोलाँ श्रीरामकृष्ण के विषय में जानने के उत्सुक हुए।

धनगोपाल मुखर्जी : कुछ देर बाद ही 'गेस्ट हाउस' से मिस मैक्लाईड धनगोपाल मुखर्जी को लेकर महाराज के पास मिलने के लिए आयी एवं उनका परिचय कराते ही महाराज बोले, 'आज मेरा शरीर उतना अच्छा नहीं है। अभी जाकर सो जाना होगा।' धनगोपाल बाबू के प्रणाम करते पर महाराज उनको खूब आशीर्वाद देते हुए बोले : 'तारकदा और महाराज के साथ मिले हो तो ? उससे ही होगा।' यही कह कर वे मठ की ओर चले गये। महापुरुष महाराज को प्रणाम करते ही वे धनगोपाल बाबू से कुशल प्रश्न पूछ कर खूब आशीर्वाद दिया।

मठ में होली उत्सव :

क्रमशः दोलपूर्णिमा का उत्सव आ गया। इसी दिन होली का उत्सव। राजा महाराज के मठ में

उपस्थित रहने से सभी के प्राणों में दिव्यभाव उदय हुआ था। राखाल महाराज के सम्बन्ध में ठाकुर ने कहा था : 'माँ ने दिखा दिया कि राखाल सत्य में व्रज का राखाल।' और भी अनेक बातें उनके स्वरूप के सम्बन्ध में बतायी थी।

होली जितना पास आ रही थी, महापुरुष महाराज का मन भी होली के दिव्यभाव में भावित हो रहा था। मठ के साधुजन प्रातःकाल उनको प्रणाम करने जाते तब सबके साथ वे होली के सम्बन्ध में नाना बातें करते। श्रीकृष्ण के भाव से भावित हो एक दिन बोले : 'हमलोग तो उस बराह नगर मठ के समय से ही होली का उत्सव करते आ रहे हैं। स्वामीजी खूब मतवाले होकर दोलपूर्णिमा के दिन स्वयं नाच-नाच कर ढोल बजा कर कीर्तन करते। "खेलिबो को श्याम तोमारि सने, (तोमाय) एकला पेयेछि आज निधुवने" यह गीत उनको खूब प्रिय था। वृन्दावन में होली के समय कुछ दिन तक खूब हो-हल्ला होता। सुसज्जित मन्दिर, मन्दिर में होली खेली जाती। नन्द ग्राम और बरसाना—इन दो जगहों में स्त्री-पुरुष दल बना कर होली खेलने में मस्त हो जाते। वैरागी और संन्यासियों के शरीर पर कोई रंग नहीं डालता'— इत्यादि अनेक बातें उस दिन बताते।

होली के दिन प्रातःकाल होते ही मन्दिर में ठाकुर को प्रणाम करके रंग देकर कई साधु खोल करताल लेकर बरामदे में नृत्य करते हुए कीर्तन प्रारम्भ कर दिया। राजा महाराज को उस दिन सभी प्रणाम नहीं कर सके। महापुरुष महाराज को प्रणाम करने के लिए जाकर देखा गया कि वे हाथ-ताली देकर—'खेलिबो होली श्याम तोमारी सने, (तोमाय) एकला पेयेछि आज, निधुवने। आमरा सब व्रजनारी, मारिबो पिचकारी, कुमकुम मारिबो, एई रांगा चरणे' इत्यादि गाना खूब तन्मय होकर बारम्बार गा रहे हैं।

आँख बन्द कर, हाथताली देकर, हावभाव करते हुए व्रजबालाओं के भाव में भावित होकर इस होली के गीत को बार बार गाने लगे। बाद में सभी ने उनके चरणों में थोड़ा-थोड़ा रंग देकर प्रणाम किया। उस दिन उन्होंने और कोई बात नहीं की।

थोड़ी देर बाद साधु लोग रंग खेलते-खेलते 'खेलिबो होली श्याम तोमारि सने'—कीर्तन गाकर खूब नाचने लगे। कुछ साधु गोपाल महाराज को मठ के चारों ओर खोजने लगे उनके साथ रंग खेलने के लिए। किन्तु ढूंढने पर भी वे नहीं मिले। बहुत खोजने पर पाया गया कि वे महापुरुष महाराज के घर में खाट के नीचे बैठे हुए हैं। गोपाल महाराज को वहाँ से निकालने की अनेक चेष्टाएँ हुई. बाहर से कुछ साधुओं ने हाथ जोड़ कर उनको निकल आने की प्रार्थना की, किन्तु वे किसी प्रकार बाहर नहीं निकले। महापुरुष महाराज सब कुछ जानते थे। गोपाल महाराज की असहाय अवस्था देख कर वे चुपचाप अपनी चेयर पर गम्भीरभाव से बैठे रहे। इधर बरामदे में खूब हो हल्ला हो रहा था।

उस दिन राजा महाराज के निर्देश से मन्दिर में विशेष पूजानुष्ठान का आयोजन हुआ था एवं पास के ध्यान घर में विरजा होम हुआ। महाराज ने दो लोगों को संन्यास दिया। वे अपने घर से निकल कर छत के ऊपर से मन्दिर जाकर ठाकुर घर के पास में ध्यान घर में विरजा होम के अन्त में दो लोगों को संन्यास दिया। ठाकुर का भोग उतरने तक बरामदे में खूब कीर्तन हो रहा था। भोग होते ही कीर्तन बन्द कर सभी गंगा स्नान करके जल्दी-जल्दी खिचड़ी और पापड़ भाजा प्रसाद खाने बैठ गये। बाहर के केवल दो-चार भक्त थे। रात्रि में अभ्यागत कक्ष में थोड़ी देर कीर्तन हुआ। इस प्रकार उस वर्ष राजा महाराज की उपस्थिति में होली का उत्सव अनेक प्रकार से स्मरणीय हुआ था। ●

डाक पंजीयित संख्या - सी. एच पी.-१४-८३

श्रीमती गंगा देवी, जयप्रकाश नगर, छपरा (बिहार) द्वारा प्रकाशित एवं
शिवशक्ति प्रिन्टर्स, सईदपुर, पटना-४ में मुद्रित।